आज सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥५॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥६॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥७॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥८॥

शब्दार्थ—''तप''—अर्थात् शीत, घाम, वर्षा, व्रत-उपवास आदिका शरीरसे सहना। अथवा, शास्त्रावलोकन आदि। तीरथ-तीर्थाटन, तीर्थवास, तीर्थस्नान। त्याग-शरीरसे सब विषय पदार्थको अंगीकार न करना। जप-गायत्री, रामतारक इत्यादि मन्त्रोंका। योग—अष्टाङ्ग योग जिसके द्वारा चित्तका निरोध करते हैं। वैराग्य—तन-मन दोनोंसे विषय पदार्थका त्याग, उनमें स्नेह न रह जाना। शुभसाधनसे सूचित किया कि उपर्युक्त तप आदिके अतिरिक्त और जितने उत्तम साधन किये हैं वे सब, वा साधन-चतुष्टय इत्यादि (पु० रा० कु०, रा० प्र० पं०)☞ बालकाण्ड २२ (५), ३७ (१०) में जप, तप, योग और वैराग्यपर विशेषरूपसे लिखा जा चुका है, वहीं देखिये।

अर्थ—हे श्रीराम! आज (मेरा) तप, तीर्थ और त्याग सुफल हुआ। आज (मेरा) जप, योग, वैराग्य सुफल हुआ॥५॥ हे राम! आज आपके दर्शनसे ही मेरे सब कल्याण-साधनोंका ठाट-बाट (सामग्री) सुफल हुआ॥६॥ आपके दर्शनोंसे (मेरी) सब आशाएँ पूर्ण हो गयीं, लाभकी सीमा और सुखकी हद (आपके दर्शनकी प्राप्तिसे अन्य) कुछ और नहीं हैं॥७॥ अब कृपा करके यह वर दीजिये कि आपके चरणकमलोंमें स्वाभाविक प्रेम हो॥८॥

नोट-१—*'आजु सुफल''''''तुम्हरे दरस''''''* ' इति। (क) भाव यह कि इन सब साधनोंका फल आपका दर्शन है। यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०। ४) इससे बढ़कर न लाभ है न सुख, यही सर्वोत्कृष्ट सुख है। इसके आगे और कोई लालसा नहीं है। पुनः, (ख) *'राम तुम्हहि अवलोकत आजू'*, *'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी'* और *'तुम्हरे दरस आस सब पूजी'* इन तीनों तुकोंसे भक्त, योगी (ज्ञानी) और कर्मकाण्डी इन तीनोंका पृथक्-पृथक् लाभ दिखाया—भक्तोंके लिये लाभ भगवत्‌की प्राप्ति अवधि, योगियोंके लिये लाभ ब्रह्मसुखकी प्राप्ति अवधि और कर्मकाण्डीके लिये लाभ आशाका पूर्ण होना अवधि है। इसी प्रकार पूर्व साधन जो कहे उनमें भी भक्त, ज्ञानी और कर्मकाण्डी तीनोंके साधन दिखाये। भक्तके लिये जप, ज्ञानीके लिये योगादि और कर्मकाण्डियोंके लिये समस्त शुभ साधन।—भाव यह कि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंके लिये यही लाभ और सुखकी अन्तिम सीमा है। (पं० रा० कु०)।

प० प० प्र०—१ वसिष्ठजीका मत है कि *'''''''जोग जग्य ब्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धरम न एहि सम आन॥'* (७। ४८) *'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।''''''तव पद पंकज प्रीति निरंतर॥ सब साधनकर यह फल सुंदर।'* इससे मिलान करनेसे 'सुफल' का अर्थ 'सुंदर फल' हुआ। श्रीवसिष्ठजी श्रीरामपदपंकजमें निरन्तर प्रेम होना समस्त साधनोंका सुन्दर फल बताते हैं और श्रीभरद्वाजजी *'राम तुम्हहि अवलोकत आजू'* अर्थात् श्रीरामदर्शनको ही सुन्दर फल कहते हैं। भेदमें भाव यह है कि भरद्वाजजी जानते हैं कि प्रभुका दर्शन अमोघ है, कुछ न माँगनेपर वे अपनी *'पदपंकज प्रीति निरंतर'* देंगे ही। अतः इन्होंने दर्शनको ही सुन्दर फल कहा।

नोट-२—*'सफल सकल सुभ साधन'* इति। (क) बालकाण्डमें शम, यम, नियमको फूल कहा है और ज्ञानको फल। भरद्वाजजीके तप-तीर्थ आदि सब साधन ज्ञानकी प्राप्ति सफल तो हो ही गये थे—*'जानहि तीन काल निज ज्ञाना'* पर उस ज्ञानरूपी फलमें *'हरि पद रति रस'* नहीं था, वह आज दर्शनसे उत्पन्न होगा। यही वर आगे माँगते हैं। (ख) आदिमें *'सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥'* (१। ३७। १४)। मध्यमें भरद्वाजजीके वाक्य और अन्तमें वसिष्ठजीके वाक्यद्वारा एक ही सिद्धान्त भिन्न-भिन्न शब्दोंमें कहा गया है।

नोट—३ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**अद्याहं तपसः पारं गतोऽस्मि तव सङ्गमात्।**' (२। ६। ३६)।'......**इतः परं त्वां किं वक्ष्ये कृतार्थोऽहं रघूत्तम॥**' (३९) '**यस्त्वां पश्यामि काकुत्स्थं पुरुषं प्रकृतेः परम्।**' अर्थात् आज आपके समागमसे मेरी तपस्या पूर्ण हो गयी। आपसे मैं अधिक क्या कहूँ? मैं तो कृतार्थ हो गया, जो आज प्रकृतिसे परे साक्षात् पुरुषोत्तम आपको देख रहा हूँ।

नोट—४ '*अब करि कृपा देहु*....' इति। (क) भाव कि जो कुछ किया था उसका फल तो आपके दर्शनसे हो गया। यथा—'*सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसन पावा॥*' अब कुछ बचा नहीं जिसके बदलेमें और कुछ माँगूँ। अतः आप कृपा करके यह वर दें। (वि० त्रि०)। इससे यह भी जनाया कि यह रसरूपा रामभक्ति यत्नसाध्य नहीं है, कृपासाध्य है, यथा—'*राम कृपा काहू एक पाई।*' (प० प० प्र०) (ख) '*निज पद सरसिज सहज सनेहू*' अर्थात् सिद्धा भक्ति,जो साधनसे नहीं मिलती। (वि० त्रि०) पुनः, '*सहज सनेह*'—जैसे मीनका जलसे। '**उत्तमा सहजावृत्तिर्मध्यमा ध्यानधारणा।**' भाव यह कि अबतक मध्यमावृत्ति रही, अब सहज वृत्ति चाहता हूँ। यथा—'**त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसंगीतकथा च वाणी। त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥**', '*राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को। सुख जीवन ज्यों जीवको मनि ज्यों फनि को हित ज्यों धन लोभ लीन को। ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को॥*' (वि० २६९)।

दो०—करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं किये कोटि उपचार॥ १०७॥

अर्थ—जबतक मन-वचन-कर्मसे छल छोड़कर मनुष्य आपका दास नहीं होता तबतक करोड़ों उपाय करनेसे भी स्वप्नमें भी सुख नहीं॥ १०७॥

पु० रा० कु०—'*छाड़ि छलु*' इति।—अर्थात् साधन करते हैं पर आकांक्षा पेटमें लिये रहते हैं और जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब उनको छोड़ दूसरा फल माँगते हैं, ऐसा न करें; किंतु भक्ति करके भक्ति ही माँगें तब छल छूटे, यथा—'*उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥*' (चारों पदार्थकी वासना छल है, यथा—'*स्वारथ छल फल चारि बिहाई।*')

रा० प्र०—'*करम बचन मन छाड़ि छलु*'—श्रीरामसम्बन्धी कर्म छोड़कर अन्य शुभ कर्मोंकी आशा करना, राम-सम्बन्धी-वार्ता छोड़ अन्य वार्ताका कहना, राम-सम्बन्धी मनन छोड़ अन्य शुभ मनन करना यही छल है; क्योंकि इसमें औरोंका भी भरोसा पाया जाता है; अतएव इनका त्याग कहा।

स्वामी प्राज्ञानानन्दजीका मत है कि चारों पदार्थोंकी वासनाको छल मानना ठीक नहीं है; क्योंकि मानसमें चार प्रकारके भक्त कहे हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ये क्रमशः चारों फलोंको चाहते हैं, पर उनको कोई कपटी या छलिया नहीं कहता। सकाम भी हरिभक्त ही है। देखिये—'*ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ*' और उन्हींको कहा है कि '*ध्रुव हरि भगत भएउ सुत जासू॥*' (१। १४२) विभीषणजीने भी कहा है—'*उर कछु प्रथम बासना रही।*' अतएव '*मोर दास कहाइ नर आसा*' करना ही छल है। छलका अर्थ दम्भ भी हो सकता है। (सुख तो अवश्य तबतक नहीं होगा जबतक किञ्चित् भी सांसारिक वासना बनी रहेगी।)

सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥ १॥
तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥ २॥
सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥ ३॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—अघाने=पेट और जी भर गया, संतुष्ट हो गये।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर श्रीरामजी सकुच गये। (मुनिके) भाव और भक्तिको देख आनन्दसे अघा गये॥ १॥ तब रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने मुनिका सुन्दर यश अनेकों प्रकारसे कहकर सबको सुनाया॥ २॥ हे मुनिराज! वही बड़ा है और वही सब गुण-समूहका घर अर्थात् समस्त गुण-सम्पन्न है, जिसे आप आदर दें॥ ३॥ मुनि और रघुवीर आपसमें एक-दूसरेसे विनम्र हो रहे हैं और उस सुखका अनुभव कर (पा) रहे हैं, जो वाणीका विषय नहीं अर्थात् जो वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ४॥

टिप्पणी—१ **'भाव भगति आनन्द अघाने'** इति (क)—गौड़जी—भगवान् भावके **'भूखे'** हैं। यहाँ **'भरपेट'** भाव पाकर अघा गये। (ख)—भावयुक्त भक्तिसे आनन्द हुआ, जिससे संतुष्ट हो गये और वचन सुनकर संकोच हुआ कि ये हमारा ऐश्वर्य प्रकट करते हैं। पुनः बड़ोंकी चाल है कि अपनी बड़ाई सुनकर सकुचाते हैं, यह शिष्टाचार है; अतः ये सकुचा गये।—(रा० प्र०)। (ग) भाव भीतरका, भक्ति ऊपरकी। अथवा, भाव-सम्बन्धी भक्तिसे आनन्द हुआ, उसीसे अघा गये। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—२—*'तब रघुबर'*……' इति। अपना ऐश्वर्य छिपानेके लिये मुनिका सुयश कहने लगे, जिसमें लोग समझें कि परस्पर बड़ाई करते हैं। वा, भक्तोंका आदर करना यह रामजीका स्वभाव है; अतएव सुयश कहने लगे (रा० प्र०)

टिप्पणी—३ ***'सो बड़ सो सब गुन गन गेहू।'*……'** इति। भाव कि आप मुनीश्वर हैं, बड़े हैं, बड़े लोग जिसका आदर करें वह बड़ा हो जाता है, आपने मुझे आदर दिया, इससे मैं भी बड़ा और सब गुणोंसे युक्त हो गया। इस प्रकार प्रभुने माधुर्यके भावसे ऐश्वर्यको छिपाया।

टिप्पणी—४ ***'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं।'*** इति। (क) मुनि रामजीकी और रामजी मुनिकी बड़ाई करते हैं, एक-दूसरेको प्रणाम करते हैं, एक-दूसरेसे अधिक विनीत भावसे बर्ताव कर रहे हैं। यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है। (ख)मुनि तो भगवान्‌के ऐश्वर्य-भावको प्रकट करते हैं, परंतु भगवान् अपने माधुर्यके आवरणमें उसे छिपाते जाते हैं, इस प्रकार परस्पर विनय-वाद हो रहा है। (गौड़जी)

टिप्पणी—५ ***'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं'*** इति। वह सुख कहा नहीं जा सकता। जब वह दशा आती है तब वह सुख मन-बुद्धिसे परे होनेसे उस दशाका अनुभव करनेवाला भक्त उसे नहीं कह सकता तो दूसरा कोई कैसे कह सके? जैसे सुतीक्ष्णजीकी दशा हुई थी—***'कहि न जाइ सो दसा भवानी'।*** और जिसकी वह दशा कभी नहीं हुई वह उसको जाने ही क्या? तो फिर कहे कैसे?—***'ताकर सुख सोइ जानै परानंद संदोह', 'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।'*** (७। ५) जो पावै सो जान भर सकता है, वह भी कह नहीं सकता। यहाँ मुनि स्वामीका सुख और रामजी सेवकका सुख लेते हैं?

☞ भगवान् और उनके भक्त, स्वामी और सेवक, परस्पर एक-दूसरेके उपासक बन गये। यहाँ स्वामी-सेवककी परस्पर कृतज्ञताका दर्शन कीजिये। दोनों परस्पर विनम्र होते-होते प्रशंसा करते-करते परानन्दमें निमग्न हो गये हैं।—**'यतो वाचो निवर्तन्ते।'**

पं० यादवशंकर जामदारजी लिखते हैं कि इस निरूपणका तात्पर्य यह है कि भजक अपनी कृतज्ञताके योगसे जब भज्यसे सम्मिलित होता है और उसके प्रेमका प्रवाह भज्यकी ओर अविचल, अविरल, अनन्य और अहेतुक रहता है, ऐसे प्रेमकी 'भक्ति' संज्ञा है; और इस भक्तिके परिणाममें भज्य भी भजकगुणविशिष्ट बन जाता है। स्वामीजीके भक्तिका तात्त्विक स्वरूप (हृद्‌गत) हमारी समझसे यही है।

वि० त्रि०—मुनिजीको भगवान्‌के नमन करनेसे जो सुख हो रहा है, वह कहा नहीं जा सकता, पर यहाँ तो भगवान् भी मुनिजीको नमन कर रहे हैं, और उन्हें भी वचन-अगोचर सुखका अनुभव हो रहा है, सरकारका स्वभाव है कि भक्तकी प्रशंसा करनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। यथा—***'ते भरतहिं भेटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥'*** (१। २९)

प० प० प्र०—१ यहाँ यह दिखाया कि जहाँ श्रोता-वक्ता दोनों बड़े ज्ञानी तथा अति विनम्र होते हैं वहाँ वे वचन-अगोचर सुखका अनुभव करते हैं। जैसे, श्रीहनुमान्-विभीषणजी, काकभुशुण्डि-गरुड़जी, याज्ञवल्क्य-भरद्वाजजीको सुख हुआ।

२—श्रीभरद्वाजकृत स्तुति पुनर्वसु नक्षत्र है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(क) नक्षत्रमण्डलमें पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है, वैसे ही यह स्तुति भी सातवीं स्तुति है। (२) नक्षत्रका नाम पुनर्वसु है। पुनर्वसु=पुनः वसु। और, वसु=धन। श्रीरामजी *'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना'* हैं ही। भरद्वाजजीके हृदयमें पहलेसे तो थे ही, अब पुनः प्रत्यक्ष प्राप्त हो गये। इस तरह भरद्वाज-स्तुतिका नाम भी पुनर्वसु सार्थक ही है। (३) पुनर्वसु नक्षत्रमें चार तारे हैं, वैसे ही इस स्तुतिमें छलविहीन कर्म, उपासना (साधनभक्ति), ज्ञान और भावभक्ति—ये चार तारे हैं। *'तप तीरथ त्यागू'* कर्म है,जप उपासना है, वैराग्य और योग ज्ञान है, क्योंकि वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान होता है। *'भाव भगति आनंद अघाने'* से भाव-भक्तिका अस्तित्व सिद्ध होता है। (४) पुनर्वसुका आकार हर्म्य-सा अर्थात् घरके समान है। और भगवान्‌ने कहा है कि *'सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥'* जिसके आदरसे दूसरे गुणगण गेह हो जाते हैं, वह स्वयं गुणगण-गेह होगा ही। यह आकार-साम्य हुआ। (५) इस नक्षत्रका देवता देवमाता अदिति हैं। कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या *'राम पितु माता'* हुए। भाव यह कि इस स्तुतिका छलविहीन गान करनेसे यह स्तुति राम-जननी कौसल्या बन जायगी। श्रीरामजीका दर्शन इत्यादि होगा। (६) *'बीज सकल ब्रत धरम नेम के'* फलश्रुति है। (१।३२।४)। वैसे ही यहाँ *'करम बचन मन'''''उपचार'* इस दोहेमें धर्म, व्रत, नेमका बीज ही तो कहा गया है, वह यह कि छलविहिन अनन्यगतिके बननेसे धर्मरूपी वृक्ष, व्रतरूपी फूल, ज्ञान फल और प्रेमा-भक्तिरसकी प्राप्ति होगी। श्रीत्रिपाठीजीने मानसप्रसंगमें लिखा है कि फलमें बीज होता है पर ऐसा अबाधित नियम नहीं है। केला, नारियल, सुपारी इत्यादि फल निर्बीज होते हैं।

नोट—*'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं'* की जोड़में अ० रा० में **'अनुग्राह्यास्त्वया ब्रह्मन्वयं क्षत्रियबान्धवाः। इति सम्भाष्य तेऽन्योन्यमुषित्वा मुनिसन्निधौ॥'** (२। ६। ४१)। यह श्लोक है। अर्थात् ब्रह्मन्! हम क्षत्रियकुलोत्पन्न हैं, अतः आपकी कृपाके पात्र हैं। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेसे कहनेके उपरान्त वे मुनिके यहाँ ठहरे।

एहि सुधि पाइ प्रयाग निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥५॥
भरद्वाज आश्रम सब आए। देखन दसरथ सुअन सुहाए॥६॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भए लहि लोयन लाहू॥७॥
देहिं असीस परम सुखु पाई। फिरे* सराहत सुंदरताई॥८॥

अर्थ—यह खबर पाकर (कि भरद्वाज-आश्रममें राजकुमार श्रीराम, श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी आये हैं।) प्रयागके रहनेवाले, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब-के-सब भरद्वाजमुनिके आश्रमपर दशरथजीके सुन्दर पुत्रोंको देखने आये॥५-६॥ श्रीरामजीने सबको प्रणाम किया। सब नेत्रोंका लाभ (अर्थात् दर्शन) पाकर आनन्दित हुए॥७॥ वे परम सुख पाकर आशीर्वाद देते हैं और उनका सौन्दर्य सराहते हुए लौट गये॥८॥

नोट—प्रयागनिवासीसे गृहस्थ-आश्रमवालोंको सूचित कर दिया। (पु० रा० कु०) यहाँ चारों आश्रमवाले गिनाये—*'बटु'* से ब्रह्मचर्याश्रमवाले, प्रयाग *'निवासी'* से गृहस्थ, *'तापस'* से वानप्रस्थ और *'उदासी'* से संन्यस्थाश्रमवाले।

प० प० प्र०—*'देखन दसरथ सुअन सुहाए।'''''* इति। *'तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥'* इत्यादिसे श्रीरामजीका अपना ऐश्वर्य छिपानेमें जो हेतु था वह सफल हुआ,यह *'दसरथ सुअन'*, *'देहिं असीस'* और *'फिरे सराहत सुंदरताई'* से स्पष्ट कर दिया। इनमेंसे किसीने श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया, इससे भी इस ध्वनिकी पुष्टि होती है।

वि० त्रि०—प्रयागनिवासी आये, उन्हें ऐश्वर्यका ज्ञान नहीं। वे दशरथके बेटेको देखने आये थे। सरकारकी शोभा देखकर गद्‌गद हो गये, आशीर्वाद देने लगे। वे सुन्दरताकी सराहना करते हुए घर लौटे। इससे

* 'फिरें—गौड़जी। अर्थ होगा—'लौट जाते हैं।'

सूचित हुआ कि उस समय भी सरकारके ऐश्वर्यके जानकार कम लोग थे। उनपर सौन्दर्यका प्रभाव पड़ता था, पर माहात्म्यके अज्ञानसे वे अपनेको कृतकृत्य न मान सके।

दो०—राम कीन्ह बिश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥ १०८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने रातको (वहीं) विश्राम किया और सबेरे प्रयागस्नान करके श्रीसीता-लक्ष्मणजी और अपने जन गुहके समेत (भरद्वाजाश्रमको) चले और (वहाँ) मुनिको प्रणाम करके आनन्दित हुए॥ १०८॥

वीरकविजी—मुनिसे विदा होकर वनको चलना नीचे लिखा गया है—*'करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥'* यहाँ त्रिवेणी-तटसे मुनिके आश्रममें आनेको कहा है। (नोट—वाल्मीकिजीने लिखा है कि प्रातःकाल उठकर मुनिके पास अपने वासस्थानपर जानेकी आज्ञा लेने गये।—'**प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत्। उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम्॥**' (२। ५४। ३६) तब उन्होंने उनको चित्रकूटमें जानेका रास्ता बताया और तब प्रभु यह कहकर कि आपके बताये मार्गसे जायँगे, वे प्रणाम करके विदा हुए। '**इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत। अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः॥**' (२। ५५। १०) '**…कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम्।**' (१२) उसीके अनुसार दो बार 'चलना' कहा गया है।—सम्पादक)

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं॥ १॥
मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं॥ २॥

अर्थ—फिर श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमसहित मुनिसे कहा कि हे नाथ! बताइये, हम किस मार्गसे जायँ॥ १॥ मनमें हँसकर मुनि रामचन्द्रजीसे कहते हैं कि तुम्हें सभी मार्ग सुगम है, चाहे जिससे जाओ॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) मग पूछा जिससे मुनि समझें कि हमारी आज्ञासे चलते हैं, हमपर स्नेह रखते हैं। अथवा, यह दिखाया कि भक्तके अधीन हैं, जिस राहसे चलावें उसी राहसे चलते हैं। अथवा, चित्रकूटकी सलाह मुनिसे हुई थी। इसीसे राह पूछी। (ख) *'हम केहि मग जाहीं'*—लक्ष्मण, सीता, सखा और आप मिलकर चार साथी हैं; अतः *'हम'* पद दिया।

नोट—१ *'सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं'* इति।—मुनि हँसे कि आप तो परब्रह्म, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ इत्यादि होकर भी ऐश्वर्य छिपाकर हमसे साधारण मनुष्योंकी तरह पूछ रहे हैं। इसी प्रकार वाल्मीकिजी, शरभङ्गजी, अगस्त्यजी, शबरीजी आदि भक्तोंसे ऐश्वर्य छिपाना चाहा, तब वे हँसे हैं और प्रकट कह भी दिया है कि *'पूछहु नाथ मोहि का जानी।'* वैसे ही यहाँ मुनि हँसे और उनका ऐश्वर्य कहने लगे। अर्थात् हमें भुलावेमें न डालिये, हम आपको पहचानते हैं। और, तत्पश्चात् माधुर्यमें जैसे प्रभुने मार्ग पूछा है वैसे ही मार्ग बतानेके लिये शिष्य साथ कर दिये। इसी प्रकार वाल्मीकि आदिने ऐश्वर्य कहकर फिर प्रसंगके अनुकूल माधुर्यमें उत्तर दिये हैं।

नोट—२—अ० रा० में इसी प्रकारका प्रश्न और उत्तर महर्षि अत्रिजीसे विदा होनेके समय है। श्रीरामजीने मुनिसे कहा कि हम लोग दण्डकारण्यको जाना चाहते हैं, आप '**मार्गप्रदर्शनार्थाय शिष्यानाज्ञप्तुमर्हसि।**' (३। १। ३) मार्ग दिखानेके लिये कुछ शिष्योंको आज्ञा दीजिये। तब मुनिने हँसकर कहा—'**प्रहस्यात्रिर्महायशाः। प्राह तत्र रघुश्रेष्ठं राम राम सुराश्रय॥ ३॥ सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं तव को मार्गदर्शकः। तथापि दर्शयिष्यन्ति तव लोकानुसारिणः॥**' (३-४) अर्थात् हे राम! हे देवताओंके आश्रयस्वरूप! सबके मार्गदर्शक तो आप हैं, आपका मार्गदर्शक कौन बनेगा? तथापि इस समय आप लोकव्यवहारका अनुसरण कर रहे हैं, अतः मेरे शिष्यगण आपको मार्ग दिखानेके लिये जायँगे।

मानसके *'बिहसि', 'राम'* और *'सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं'* क्रमशः *'प्रहस्य', 'राम राम सुराश्रय'* और '**सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं……**' का भाव है। भरद्वाजजीने जो गुप्त रीतिसे कहा है, अत्रिजीने उसे खोलकर कहा है।

गौड़जी—भगवान् जो कुछ कहते हैं या पूछते हैं वह माधुर्यभावसे ही पूछते हैं, परंतु ऋषियोंके सहज-सुलभ वाक्पाटवसे भरद्वाजजी उनके सीधे प्रश्नको भी ऐश्वर्यभावमें ले जाते हैं। ऐसा ही वाल्मीकि आदि सबके प्रसंगमें हुआ है। भरद्वाजजी ऐश्वर्यभाव लेकर कहते हैं कि महाराज, क्या पूछते हैं? आपके लिये सभी मार्ग सुगम हैं, क्योंकि आप ब्रह्म हैं। हाँ, जीवोंके लिये कोई मार्ग सुगम होगा कोई दुर्गम। **'तुम्ह कहुँ'** में यही ध्वनित है। मनमें बिहँसनेका प्रयोजन भी यही व्यंग्य है। फिर व्यवहार और माधुर्य भावके निर्वाहके लिये लौकिक मार्ग बतानेवाले शिष्य साथ कर दिये।

पाण्डेजी—१ मुनिने हँसकर जो उत्तर दिया कि आपको सब मार्ग सुगम हैं और कोई राह निज ओरसे नहीं बतलायी, इससे सूचित होता है कि रघुनाथजी वह उत्तर पाकर चुप हो रहे। इससे जाना गया कि साधारण अर्थके अतिरिक्त श्लेषशब्द 'मग' के द्वारा इसमें दूसरा अर्थ भी प्रकट किया गया है, अर्थात् रामजी व्यंग प्रश्नद्वारा पूछते हैं कि हमको लोग अनेक मार्ग होकर बुलाते हैं, हम किस मार्ग होकर जायँ, उनसे किस पथसे मिलें?

२—मुनि मननशील हैं। इसीसे उन्होंने कहा कि आपको सब मग सुगम हैं, क्यों कि प्रीति चाहिये,चाहे कर्मकाण्डमें मिलो, चाहे ज्ञानकाण्डमें और चाहे उपासनाकाण्डमें, आपको सब सुलभ है। और, *'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥' 'जहँ न होउ तहँ देउ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ।'* (पा०, पं०, वै०, खर्रा)

बैजनाथजी लिखते हैं कि मुनि यह विचारकर कि अनजान बनकर हमसे पूछते हैं, हँसे और कहा कि 'सब मार्ग तुमको सुगम हैं। भाव कि आप जीव तो हैं नहीं, जो डर हो कि प्रवृत्तिमार्गसे चलनेसे भवबन्धनमें पड़ेंगे, जिससे हम निवृत्तिमार्ग बतावें। आप ब्रह्म हैं। आपको सब मार्ग सुगम हैं, यह ऐश्वर्यभाव है और माधुर्यमें यह कि सब आपकी प्रजा हैं, जिधरसे जाइयेगा सब सुपास करेंगे। वीरकविजीने भी इन भावोंको दिया है। पर स्पष्ट प्रसंग वन-मार्गका है और मुनिका हँसना ऐश्वर्य छिपानेपर है।

साथ लागि मुनि सिष्य बोलाए। सुनि मन मुदित पचासक आए॥ ३॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मगु दीख हमारा॥ ४॥
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे॥ ५॥
करि प्रनामु रिषि आयेसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—**लागि**=लिये। **पचासक**=पचासके लगभग ऐसा बोलनेका मुहावरा है।

अर्थ—साथके लिये मुनिने शिष्योंको बुलाया। (साथ जानेकी बात) सुनकर आनन्दित मनसे कोई पचास शिष्य आये॥ ३॥ सभीका श्रीरामजीपर अपार प्रेम है। सभी कह रहे हैं कि मार्ग हमारा देखा हुआ है॥ ४॥ तब मुनिने चार ब्रह्मचारी साथ कर दिये, जिन्होंने अनेक जन्मोंमें सब पुण्य कर्म किये थे॥ ५॥ प्रणाम करके और ऋषिकी आज्ञा पाकर रघुराज रामजी बड़े ही आनन्दित मनसे चले॥ ६॥

टिप्पणी—मुनिने चार विद्यार्थी साथ कर दिये। इसका कारण वे स्वयं लिखते हैं कि इन चारोंने अनेक जन्मोंसे तप, तीर्थ, देवाराधन, परोपकार आदि सब प्रकारके सुकृत किये थे; अतएव इन्हीं चारको ही साथ किया। चलनेके सम्बन्धसे **'रघुराई'** पद दिया। (वाल्मीकिजीका अब दर्शन होगा अतः प्रमुदित चले। रघुराईसे यह भी सूचित किया कि वहाँ भी माधुर्य बरतेंगे। (प० प० प्र०)

नोट—चार ब्रह्मचारी क्यों दिये; एक, दो वा अधिक ही क्यों न दिये? ब्रह्मचारी सुकृती क्यों दिये औरोंको क्यों न दिया? ये प्रश्न उठाकर लोगोंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। यद्यपि ग्रन्थकारने स्वयं कारण दिया है और यों तो दो, तीन······सभीमें शङ्का उठायी जा सकती थी। कुछ यहाँ दी जाती हैं। १—सम्मानार्थ एकसे अधिक दिये। २—वनमार्ग है, लौटनेमें इनको अकेले असुविधा होगी। ३—राम, लक्ष्मण, सीता,

गुह चार हैं इससे चार साथी दिये—(पंजाबीजी)। ४—इस ग्रन्थमें प्रेम प्रधान है परंतु मुनि कर्मकाण्डी हैं, इसलिये उन्होंने अपने अनुकूल कर्मकाण्डियोंको दिया। दूसरा आशय यह है कि मुनिने सोचा कि यदि प्रेमियोंको साथ करते हैं तो न जाने वे प्रेममें मग्न होकर प्रभुको कहाँ-के-कहाँ ले जायँ। जैसे प्रेमवश गुह रास्ता भूल गया था, यथा—*'सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरिसहिं फूला॥'*; अतएव यहाँ देशकालानुसार जो सुकृती हैं, कर्ममें निपुण हैं और मार्ग बतानेके कर्मको भी भली-भाँति जानते हैं और निबाह देंगे, ऐसे चार शिष्य दिये। चार शिष्य चार सम्प्रदायी हैं। (पाँड़ेजी) ५—वे चार अभी सुकृती और तपस्वी हैं, अभी साधन-सम्पन्न हैं, अभी पूर्ण प्रेमी नहीं; इन्हें रामजीसे प्रेम दिलाना है अत: इनको साथ किया, शेष ४६ साधनद्वारा मोक्ष पा चुके हैं। (महादेवदत्तकी मानसशङ्कावली) ६—ब्रह्मचर्य—उपदेश-निमित्त बटु दिये। ७—चार इससे कि ब्रह्मचर्यके चार भेद हैं।—(पंजाबीजी) ८-१८ पुराण, १८ स्मृति, ६ शास्त्र, ४ उपवेद और ४ वेद ये ही ५० शिष्यरूपसे ५० मार्गदर्शायक आये; इनमेंसे बड़े सुकृती चारों वेदोंको साथ कर दिया। (वै०)

☞ प्रज्ञानानन्दस्वामीजी ठीक ही कहते हैं कि *'सुकृती'* शब्दके आधारपर कहना कि ये चार प्रेमी नहीं थे, अनुचित है; कारण कि जो एकाएक आये थे उनके सम्बन्धमें कविने स्वयं *'सबन्हि रामपर प्रेम अपारा'* ऐसा लिखा है और ये चारों उन्हींमेंसे थे तब ये प्रेमी कैसे नहीं हैं? श्रीरामजीको मार्ग बताना है, यह भाग्य साधारण सुकृतियोंका नहीं है। जिन्होंने अनन्तों जन्मोंमें सब प्रकारके सुकृत किये हों, उन्हींको इस महत् भाग्यका लाभ होता है। उनके साथ जाना भी अनन्त सुकृतोंके फलसे ही होता है। तभी तो श्रीसुतीक्ष्णजी वाक्चातुरीसे साथ हुए थे। चार शिष्य क्यों दिये? क्योंकि पैदल यात्रामें चार व्यक्तियोंको साथ रहना चाहिये, यह नियम है—**'एकस्तपो द्विरध्यायी त्रिभिर्गीतं चतुष्पथ:।'** कर्मकाण्डके इस नियमका पालन भरद्वाज करते और कराते हैं, क्योंकि वे कर्मकाण्डी हैं।

'सुरसरि उतरि निवास प्रयागा'-प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

वाल्मीकि-मिलन-प्रकरण

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई॥७॥
होहिं सनाथ जनम फलु पाई। फिरहिं दुखित मनु संग पठाई॥८॥
दो०—बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम॥१०९॥

शब्दार्थ—दरसु (दरशु)=रूपदर्शन, यथा—*'हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा।'* (२५०। ७) *'यह रघनंदन दरस प्रभाऊ।'* (२५१। ६) दरस देखना=दर्शन करना। यथा—*'भरत दरस देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु।'* (२२३)

नोट—भुशुण्डीजीकी मूलरामायणमें प्रयाग-निवासके बाद *'बालमीकि प्रभु मिलन बखाना'* प्रकरण है। प्रयागसे अब उनके आश्रमको जा रहे हैं। मार्गमें ग्रामवासियोंको सुख देते जा रहे हैं। अत: उस प्रकरणकी भूमिका यहींसे उठी।

अर्थ—जब ये किसी गाँवके पास जा निकलते हैं तब (वहाँके) स्त्री-पुरुष दौड़कर इनके रूपको देखते हैं (दर्शन करते हैं)॥ ७॥ जन्म लेनेका फल पाकर सनाथ (कृतार्थ, कृतकृत्य) हो जाते हैं और अपने मनको उनके साथ भेजकर दु:खित होकर लौटते हैं॥८॥ ब्रह्मचारियोंको (जो मुनिने साथ कर दिये थे) विनय करके श्रीरामजीने बिदा किया। वे अपना मनोरथ प्राप्त करके लौटे। तब यमुना पार होकर प्रभुने यमुनाजीके जलमें स्नान किया जो शरीरके समान ही श्याम था॥१०९॥

नोट—१ *'ग्राम निकट जब''''''पठाई'* इति। (क) मिलान कीजिये—*'पद कोमल स्यामल गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाये। कर बान सरासन सीस जटा सरसीरुह लोचन सोन सोहाये॥ जिन देखे सखी*

सत मायहु ते तुलसी तिन्ह तो मन फेरि न पाये। यहि मारग आजु किसोरबधू बिधु बैनी समेत सुभाय सिधाये॥' 'जेहि मग सियरामलखन गए, तहँ तहँ नरनारि बिनु छर छरिगे। निरखि निकाई अधिकाई बिथकित भए बच बिअ नैन-सर शोभासुधा भरिगे॥ १॥ जोते बिनु बए बिनु निफन निराये बिनु सुकृत सुखेत सुखसालि फूलि फरिगे। मुनिहु मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ सुगम सो राम लघु लोगनि को करिगे॥ २॥ लालची कौड़ीके कुर पारस परे हैं पाले, जानत न को हैं कहा कीबो सो बिसरिगे। बुधि न बिचार न बिगार न सुधार सुधि, देह गेह नेह नाते मन से निसरिगे॥ ३॥''''' (गी० अ० ३२); *'अवलोकहु भरि नयन बिकल जनि होहु करहु सुविचार। पुनि कहँ यह सोभा कहँ लोचन, देह गेह संसार॥ सुनि प्रिय बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपासुखसागर। तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हि के मन,तन रहि न सँभार॥'* (२९) इत्यादिसे। इनसे *'होहिं सनाथ जनम फल पाई', 'दुखित'* और *'मन संग पठाई'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ख) *'होहिं सनाथ.....'* इति। ये लोग यह तो जानते नहीं कि ये परमात्मा हैं तथापि उनका जन्म सफल हो गया। इससे सूचित किया कि भगवान् रामने उनपर कृपा की। (प० प० प्र०) (ग)☞ *'फिरहिं दुखित.....'*—मन हाथसे निकलकर बटोहीके साथ चला जाता है, इसीसे व्याकुलता होती है। (प्र० सं०) *'पठाई'* में भाव यह है कि साथ जानेकी इच्छा है, पर *'गृहकारज नाना जंजाला'* से छुटकारा नहीं है, (दूसरे प्रभु अपने साथ दूरतक किसीको जाने कब देने लगे), अतः वे मनसे उनके साथ हो गये। तनसे लौटते हैं। इसीसे दुखी हैं। (प० प० प्र०) (घ)—'मिलान कीजिये गी० ३२ के *'चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानौं न कौन कहाँ ते धौं आए। मनु गयो संग सोचबस लोचन मोचत बारि कितौ समुझाए॥ तुलसिदास लालसा दरस की सोइ पुरवै जेहि आनि देखाए।'* ग्रामवासियोंके इस वाक्यसे। और भी—*'बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत तन पुलक नयन जलधार बही॥'* (गी० २। ३८)।—इनमें *'दुखित'* का भाव है। पुनश्च—*'जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई। तब तें परै कल न कछू न बसाई॥''''''तन सुधि गई मन अनत न जाई।'* (गी० २। ४०) (ङ) दर्शन लेकर मन साथमें देना *'परिवृत्त अलङ्कार'* है। (वीर)

२—(क) *'बिदा किए बटु बिनय करि'*—इससे जनाया कि वे फिरना न चाहते थे, इसीसे विनय करके लौटाना पड़ा। (ख) *'बिनय करि'* अर्थात् कहा कि आपको बड़ा कष्ट हुआ, अब राह मिल गयी, अब हम चले जायँगे। (पु० रा० कु०) गुरु महाराज राह देखते होंगे, चिन्तित हो जायँगे, उनकी सेवामें समयसे पहुँचना चाहिये। इत्यादि। (ग) *'फिरे पाइ मन काम'* इति। वे बड़ी उत्सुकतासे साथ चलनेको आये। उनकी मनोकामना थी कि कुछ कालतक चरणोंके दर्शन होते रहेंगे। उनकी यह मनोकामना पूरी हुई। आखिर उन्हें लौटना ही था, अतः फिरे। उनके परिश्रमके बदलेमें उनके मनोरथ पूरे किये। (घ) *'उतरि नहाए जमुन जल.....'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मणजीने लकड़ियाँ एकत्र करके नौका (बेड़ा) बनायी और उसके द्वारा यमुनाको पार किया—'**तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्**।' (२। ५५। १५)।''''''**ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम्। तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम्**॥' (२२) और अ० रा० में मुनिकुमारोंकी बनायी हुई डोंगीपर चढ़कर पार होना कहा है। कल्पोंमें मतभेद होनेसे यहाँ केवल *'उतरि नहाये'* कहा गया, साधनका नाम न दिया गया। *'उतरि'* अर्थात् नौकाद्वारा यमुनापार होकर नावसे उतरकर स्नान किया। नदी पारकर स्नान करना चाहिये, यथा—*'करि मज्जन सरयू जल गये भूप दरबार।'* (१। २०६) *'उतरि ठाढ़ भए सुरसरि तीरा।''''''तब मज्जन करि रघुकुल नाथा।'* (१०२। १, १०३। १)। इत्यादि। यह नियम है। (ङ) *'जो सरीर सम स्याम'*—शरीर उपमेय, जल उपमान है। परंतु यहाँ उपमेयको उपमान और उपमानको उपमेय कर दिया। प्रथम प्रतीप अलङ्कार है। भाव कि शरीरकी श्यामता यमुनाकी श्यामतासे अधिक सुन्दर और मनोहर है।

सुनत तीरबासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥ १॥
लषन राम सिय सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥ २॥

अति लालसा सबहि* मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥ ३॥
जे तिन्ह महुँ बय बिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥ ४॥
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनायी। बनहिं चले पितु आयसु पाई॥ ५॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—तीर=तट, किनारा। बिरिध (वृद्ध)=बुड्ढे, बूढ़े। नाउँ=नाम।

अर्थ—यमुनाके किनारे रहनेवाले स्त्री-पुरुष सुनकर (कि अत्यन्त सुन्दर दो पुरुष और एक स्त्री आ रहे हैं।) अपना-अपना काम भूलकर दौड़े॥ १॥ लक्ष्मण, राम और सीताजीका सौन्दर्य देखकर अपने भाग्यकी बड़ाई करते हैं॥ २॥ सबके मनमें (इनका नाम और घर-गाँव जाननेकी) अत्यन्त उत्कट लालसा है, पर नाम-ग्राम पूछते सकुचाते हैं॥ ३॥ उनमेंसे जो वृद्धावस्थाके और चतुर थे उन्होंने युक्तिसे रामजीको पहिचान लिया॥ ४॥ उन्होंने सारा वनवास-प्रसंग सबको सुनाया। (और कहा कि) पिताकी आज्ञा पाकर ये वनको चले हैं॥ ५॥ यह सुनकर सब दुःखित हो पछताते हैं कि रानी और राजाने अच्छा नहीं किया॥ ६॥

नोट—*'सुनत तीर बासी'......'* इति। (क) इससे जनाया कि यमुनाके तीर-तीर यमुना-वनसे होते हुए जा रहे हैं। (ख) *'धाए निज निज'*—यहाँ कार्यका त्याग नहीं कहा, कार्यका बिसारना कहा है। मानसमें सर्वत्र काजका बिसारना और कामका त्याग कहा गया है। उदाहरण—*'राम भजिय सब काज बिसारी।'* (७। १२३। २), *'चले सकल गृह काज बिसारी।'* (१। २४०। ६) *'चलहिं तुरत गृह काजु बिसारी।'* (२। ११४। २) *'धाए धाम काम सब त्यागी।'* (१। २२०। २) *'सोक धाम तजि काम।'* (५। ४६) अतः जहाँ कामके साथ 'बिसारी' आया हो, वहाँ काम=गृहकार्य (प० प० प्र०)। चैत्र-वैशाखका महीना है। फसलका अन्न माड़ना कूटना है वह काम भूल गये, अथवा और भी जो घरका काम धन्धा था उसे भूल गये। यथा—*'रामपथिक छबि निरखि कै तुलसी मग लोगनि धाम काम बिसरे हैं।'* (गी० २। २५)। यहाँ भक्तोंको उपदेश है कि जब इस तरह प्रभुके लिये दौड़ोगे तब वे अवश्य प्राप्त होंगे।

२—*'देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई'*—सौन्दर्य देखकर सभी कृतकृत्य हो जाते हैं। मिलान कीजिये—*'नीके कै निकाई देखि, जनम सफल लेखि, हम सी भूरि भागिनि नभ न छोनी। । तुलसी स्वामीस्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनि, सोभा सुधा पिए करि अँखियाँ दोनी॥'* (गी० २। २२) *मनोहरताके मानो ऐन। स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ सुमुखि निरखु भरि नैन॥ बीच बधू बिधु बदनि बिराजति उपमा कहुँ कोऊ है न। मानहु रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनाए हैं मैन॥ किधौं सिंगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मगलोगन्हि सुख दैन॥* (गी० २। २४। १—३) *'सीता राम लषन निहारि ग्रामनारि कहैं, हेरि हेरि हेरि हेली हिय के हरन हैं। प्रानहूँके प्रानसे सुजीवनके जीवनसे, प्रेमहू के प्रेम रंक कृपिन के धन हैं। तुलसी के लोचन चकोर के चंद्रमा से, आछे मन मोर चित चातक के घन हैं॥'* (गी० २। २६) *'रूप सोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं। मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं।'......धन्य जे मीन से अवधि अंबु आय हैं। तुलसी प्रभु सो जिन्ह हूँ के भले भाय हैं।'* (गी० २। २८) *'अवलोकहु भरि नैन बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार। पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन, देह गेह संसार।'* (गी० २। २९) *'आली अवलोकि लेहु नयनन्हि के फलु एहु, लाभ के सुलाभ सुख जीवनसे जी के हैं। धन्य नर नारि जे निहारी बिनु गाहकहू, आपने आपने मन मोल बिनु बीके हैं॥'* (गी० ३०) *'एक कहैं बामबिधि दाहिनो हमको भयो॥'* (३४)—इन पद्योंमें *'भाग्य बड़ाई'* का ही भाव है।

३—(क) *'अति लालसा सबहिं'......'* इति। जाननेकी उत्कण्ठा है पर उनका तेज-प्रताप देख पूछ नहीं सकते। (ख) *'करि जुगुति रामु पहिचानें'* इति। उन्होंने सुना था कि दशरथमहाराजने अपने पुत्रको वनवास दिया है, उनके साथ उनका भाई और स्त्री भी हैं। और राजलक्षण देखे इससे पहिचान लिया।

* बसहिं—राजापुर (लाला सीताराम, गी० प्रे०)। सबहिं—रा० प्र० इत्यादि।

वा, निषादराजसे इशारेसे पूछकर परिचय पा गये।—(रा० प्र०, वीरकवि) अथवा, युक्ति यह की कि श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि हमारी कुटीपर चलिये, वहाँ आपको सब तरहका सुपास होगा,यहाँ बाहर आप लोगोंको कष्ट होगा। इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि पिताकी आज्ञा ग्राममें जानेकी नहीं है। ये लोग अयोध्याका हाल सुन चुके थे, बस उत्तरसे समझ गये कि ये राजकुमार हैं। श्रीरघुनाथजीसे चलनेका प्रस्ताव जो किया यही युक्ति है। (नं० प०) वा, युक्ति गुप्त होती है। निषादराजको एक किनारे ले जाकर उनसे पूछ लिया, कुछ-न-कुछ बहाना करके निषादराजके साथ परिचय करके तब पूछा होगा। (प० प० प्र०) अ० दी० च० का मत है कि ज्योतिष और सामुद्रिकसे चिह्न देखकर और रूप-तेजादिसे जान गये कि मनुष्य नहीं हैं और ध्यानसे पता लगा कि परमात्मा हैं।

४—(क) '*सकल कथा तिन्ह''''''नाहीं।*' इति। गी० अ० के—'*आली री! पथिक जे एहि पथ परौं सिधाए। ते तौ राम लषन अवध तें आए॥ संग सिय सब अंग सहज सुहाए। रति काम रितुपति कोटिक लजाए। राजा दसरथ रानी कौसिला जाए। कैकेयी कुचालि करि कानन पठाए॥ बचन कुभागिनिके भूपहि क्यों भाए? हाय हाय राम बाम बिधि भरमाए। कुलगुरु सचिव काहू न समझाए। काँच मनि लै अमोल मानिक गँवाए। भाग मग लोगन्ह के देखन जे पाए।*' (गी० २। ३९) '*कैसे पितु मातु प्रिय परिजन भाई। जीवत जीवके जीवन बनहि पठाई॥*' (गी० २। ४०)।—इन उद्धरणोंमें इस चौपाईके भाव हैं (ख) '*सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं।*' इति—सुकुमारता, छोटी अवस्था और सौन्दर्य इत्यादि देखकर सबके चित्तको दुःख हुआ, इसीसे वे राजा-रानीको दोष लगाते हैं। रानीके हठसे वनवास हुआ अतः उसे प्रथम कहा।

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥ ७॥
कवि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥ ८॥
दो०—सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥ ११०॥

अर्थ—इसी समय एक तपस्वी आया जो बड़ा तेजस्वी,छोटी अवस्थाका और सुन्दर था। उसकी गति कविके लिये अलखित है अर्थात् कवि नहीं जानते कि वह कौन है, विरक्तोंका वेष है और मन-वचन-कर्मसे रामजीका प्रेमी है॥ ८॥ अपने इष्टदेवको पहचानकर उसके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीरमें पुलकावली छा गयी, वह पृथ्वीपर डण्डेकी तरह पड़ गया अर्थात् उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् की। उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती॥ ११०॥

'तापस-प्रकरण'

इस तापसके प्रसङ्गपर समालोचक, साहित्यज्ञ और कुछ टीकाकार बेतरह जुट पड़े हैं। वे किसी तरह भी प्रसङ्गको मानसमें नहीं ही रखना चाहते और इसको क्षेपक बताते हैं।

बाबू शिवनन्दन सहायजी लिखते हैं—'रामचन्द्र निषादादिके साथ यमुनापार उतरे हैं। तीरवासी नर-नारी इन लोगोंको देख और वन-यात्राकी कथा सुन पछता रहे हैं;—'*सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं॥ तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥*'

और वह सब किसीको दण्ड प्रणाम कर—'*पियत नयनपुट रूप-पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥*' इसके अनन्तर लिखा है—'*ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥*'

इस प्रकरणके देखनेसे भान होता है कि '*सुनि सबिषाद*' इत्यादि—इस चौपाईको '*ते पितु मातु*' वाली चौपाईसे सहज सम्पर्क है और दोनोंके मध्यमें ८ चौपाइयों और एक दोहामें एक अन्य कथा घुसा देना सर्वथा अनुपयुक्त है। गोसाईंजीने ऐसा कदापि नहीं किया होगा।

और इस तपसीने सिवाय दण्ड-प्रणामके कुछ किया भी नहीं है। इस तापसके सम्बन्धमें टीकाकारोंकी विचित्र कल्पनाएँ देखिये—

(१) स्वयं गोसाईंजी निवासियोंका दौड़ा आना लिखकर ध्यानमें डूबे, यमुना किनारे पहुँच दण्ड-प्रणाम कर आये और जो प्रसङ्ग लिखकर ध्यानमें डूबे थे उसके आगे हनुमान्‌जीने उनके दण्ड-प्रणामका हाल लिख दिया और गोसाईंजी उसे मिटा न सके।

(२) रामचन्द्रका रावणवध-संकल्प शरीर धारणकर उन्हें याद दिलाने आया।

(३) चित्रकूट ही शरीर धारणकर अगुआनी करने आया।

(४) तेजपुंज और भूखा होनेके कारण लोग इसे तपस्वीतनधारी अग्नि बताते हैं। यह इस वास्ते आ धमका कि अब निषादको रामचन्द्र फेर देंगे, मार्गमें तीनका जाना अशुभ है, हम अब साथ-साथ जायँगे। और बराबर साथ रहा, इसीसे सीताजी इसे सौंपी गयीं (*तुम पावक महँ करहु निवासा*), सुग्रीवके साथ मित्रताके समय साक्षी हुआ और लंकामें सीता अग्निमें शोधी गयी।

(५) यमुना-किनारे अगस्त्यका एक शिष्य रहता था वह दर्शन करने आया।

किसी-किसी संस्करणमें तपसीकी कथाके बाद यह चौपाई है—'*उर धरि धीर रजायसु पाई। चले मुदित मन अति हरषाई॥*' इससे तो तपसीके साथ जानेकी बात स्वयं रद्द होती है और 'मानस-मयंक' भी इसकी पुष्टि करता है। इसके अनुसार गालवका पुत्र आया था और दण्ड-प्रणामकर निषादके साथ ही लौट गया। परंतु पूर्वोक्त दोनों संस्करणों (खड्ग-विलास-प्रेस तथा नागरी-प्रचारिणी-सभाद्वारा प्रकाशित) में (अतएव राजापुरवाली रामायणमें) यह चौपाई नहीं है, अत: टीकाकारोंका कथन विचारणीय है।

(१) गोसाईंजीके ध्यानकी बातसे और इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह घटना उस समयकी कही गयी है जब गोसाईंजीके इस संसारमें रहनेका कोई पता भी नहीं बता सकता। यदि इनके ध्यानहीकी बात है तब यह निश्चय हनुमान्‌जीकृत क्षेपक ही है। इससे तो हमारे कथनका पूरा समर्थन होता है।

(२) दूसरी व्यख्या बालकोंकी गप है। रामचन्द्रजी भुलक्कड़ थोड़े ही थे। आकाशवाणीकी बात याद रही कि मनुजशरीर धारण किया और अब स्मरण करानेकी आवश्यकता हुई। और फिर इस शरीरमें तो अभी उन्होंने प्रतिज्ञा भी नहीं की थी, आगे करेंगे।

(३) चित्रकूट अगुआनी करने आया, पञ्चवटी क्यों नहीं आयी? कामदनाथ आये, त्र्यम्बकनाथ क्यों नहीं आये? क्या पञ्चवटी तथा त्र्यम्बकनाथ इन्हें परब्रह्म परमेश्वर नहीं जानते थे?

(४) यदि पथमें तीन पथिकोंके साथ चलनेका दोष निवारण करनेके हेतु अग्नि शरीर धारणकर यहाँसे साथ हुआ तो सीता-अपहरणके अनन्तर ऋष्यमूक-पर्वतपर्यन्त जानेतक तीनका दोष कैसे निवारण हुआ? और सीताहरण इन्हीं महात्माके साथ रहनेके समय हुआ। उसे क्या शुभकार्य कहियेगा? लंकामें सीताजीके परीक्षार्थ लक्ष्मणजीने अग्नि प्रकट किया था। साक्षीके लिये अग्नि वा किसी देवताको शरीर धारणकर रामचन्द्रके साथ वन-वन घूमनेकी आवश्यकता नहीं थी। वाल्मीकिजीके अनुसार उस समय हनुमान्‌जीने दो लकड़ियोंको रगड़कर अग्नि प्रकट किया था। समयपर मन्त्रद्वारा उनका आवाहन हो सकता था और ऐसा ही आज भी विवाहादिके समय हुआ करता है। और '*तुम पावक महँ करहु निवासा*' के '*महँ*' शब्दसे यह प्रतिपादित नहीं होता कि वे किसी शरीरधारी व्यक्तिके चार्जमें दी गयीं। अग्निमें प्रवेशके लिये तो लंकाके समान वहाँ भी अग्नि प्रकट किया जा सकता था और सौंपनेके लिये भी समयपर मन्त्रद्वारा अग्निका आवाहन हो सकता था। रही अगस्त्यके शिष्यकी बात, सो स्वाभाविक तथा सम्भाविक है। परंतु तो भी इसका उत्तर नहीं मिलता कि यह कथा बेजोड़ कैसे घुसी? गोसाईंजीको तो किसी पात्रको इस कुढंगपनेसे अपनी रचनामें प्रवेश कराते कहीं नहीं देखते।'

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि तेजपुंजसे अग्नि सूचित किया। सुहावा अर्थात् सुन्दर है और अग्निसे रूप होता ही है—वह तो स्वयं अग्नि है, सुन्दर हुआ ही चाहे। उसीकी गति कविके लखनेमें नहीं आती अथवा कवि है जब जानता तब सबका साक्षी है। अथवा इससे लखनेमें नहीं आता कि अग्निकी गति कौन लख सकता है, पेटमें है, काठमें भी है, सभीमें है। पेटमें रहता है जलाता नहीं, समुद्रमें रहता

है-बुझता नहीं, इसीसे अलखित गति है। वेष विरागी है अर्थात् कुछ संग्रह नहीं किये हैं—अग्नि सबको जलाकर अपना-सा कर देता है, गुण-दोष किसीका नहीं ग्रहण करता। 'यह इतिहास बटुरामायणसे, जो सोलह हजारका है, गोसाईंजीने लिखा है। उसमें लिखा है कि जब राजाने यज्ञ किया तब स्वप्नमें उनसे पूछा गया कि क्या इच्छा है? उन्होंने पुत्रकी अभिलाषा बतायी। तब उत्तर मिला कि चार पुत्र होंगे जब २७ वर्षके होंगे तब वन जायँगे वहाँ हम संग रहेंगे। वही अग्नि यज्ञ-पुरुष-स्वरूप धारण करके सीताकी रक्षा करनेके लिये आया और उनके पातिव्रत्यकी रक्षा करता है। अथवा शुक्राचार्य हैं परमहंसचर्याको प्राप्त हैं, अग्निकुण्डसे निकले हैं।'

पं० रामचरण मिश्र कहते हैं कि जब यह प्रकरण क्षेपक नहीं है तो इसकी यथार्थता अन्वेषणीय है। कोई चित्रकूट, कोई अग्नि और कोई ग्रन्थकारहीको सिद्ध करते हैं; पर चिन्तनीय है कि चित्रकूट वा अग्निका नाम जाहिर कर देनेसे कविका क्या हर्ज था जो ऐसा गुप्त रखा और जो कवि अपने लिये रखते तो 'तेजपुंज' आदि उच्च विशेषण अपने लिये न देते; क्योंकि वे कार्पण्य शरणागति दर्जेपर हैं। अतः यह गुप्त प्रकरण हनुमान्‌जीका आवेशावतारद्वारा सिद्ध हुआ प्रतीत होता है। और, सूक्ष्मस्वरूपसे अनन्यगति वायुसूनु साथ-ही-साथ रहे, आगे सुग्रीव-प्रकरणमें स्थूलरूपकी लीला ग्रन्थकार कहेंगे, यहाँ सूक्ष्मरूपकी लीला स्वयं कही। आवेश निकल जानेपर कविने अपने प्रकरणमें आरूढ़ होकर जहाँसे छोड़ा था वहींसे ले लिया कि *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे'*...... ' इत्यादि। वैष्णवरत्न श्रीरूपकलाजीका अनुभव भी यही है कि वे श्रीहनुमान्‌जी थे।

गौड़जी—तापसवाला प्रकरण क्षेपक अवश्य है, परंतु यह क्षेपक मानसकारकी ही लेखनीसे पीछेकी प्रतियोंमें लिखा गया है। गालवपुत्रका आना और कविके द्वारा उसकी गतिका अलखित होना बहुत सुसंगत नहीं जँचता। स्वयं गोस्वामीजीका इस प्रकार भगवान्‌के दर्शन करने आना भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि आगे चलकर ज्ञानी भक्त वाल्मीकिके रूपमें तो स्वयं भगवान् उनके आश्रमपर पधारेंगे। यदि कहें कि आगे लेने आये तो वहाँ आश्रममें इसी क्रियाका दोहराया जाना पाया जायगा। संकल्पका रूप धरके याद दिलाने आना गुस्ताखी है। चित्रकूटका रूप धरकर बुलाने आना अनोखी बात है और कोई स्थान स्वागतार्थ नहीं आया। शंकरावतार हनुमान्‌जीका तापसरूपमें पधारना और बाल-ब्रह्मचारीरूपमें जगज्जननीकी चरण-धूलि लेना आदि सब अत्यन्त सुसंगत हैं, परंतु तापसको वापस करनेवाली अर्धालीका होना भी जरूरी है, नहीं तो जब तापस-रूपमें हनुमान्‌जी बराबर साथ रहे तो सीताहरण आदिके समय कहाँ थे? (उनके सूक्ष्मरूपमें फिर हो जानेकी चर्चा ही कहीं नहीं है।) फिर बटुरूप धरकर सरकारसे परिचय पानेका अनोखा अभिनय कैसे करते? उस अर्धालीके होनेसे तापसवाली कथा इस गुत्थीको भी सुलझा देती है कि हनुमान्‌जी प्रभुको न पहचाननेपर लज्जित क्यों होते हैं। यदि तापसको वापस भेजनेवाली अर्धाली नहीं रहती तो अग्नि-भगवान् (जो कि स्वयं भगवान् शंकरके अवतार हैं और इसीलिये भगवद्भक्तशिरोमणि हैं) तापसके रूपमें मिलते हैं फिर 'अलखित' वा अदृश्य-रूपसे बराबर साथ रहते हैं। उन्हींमें सीताजीका निवास रहता है। सरकारकी वियोग-लीलाके समय भी बराबर जगज्जननी साथ ही हैं। भगवान् शंकरकी यह कार्रवाई है। *'लछिमनहू यह मरमु न जाना।'* जहाँ-जहाँ साक्षीकी आवश्यकता हुई स्थूल अग्नि प्रकट किया गया। तपस्(=अग्नि) का 'तापस' रूप सुसंगत है। 'तेजपुंज' 'अलखित गति' अग्निकी ही होती है। अग्नि 'विरागी' होता ही है। कुछ लोग 'शिव' जी परक अर्थ भी करते हैं परंतु तापस-रूपमें 'अग्नि' हों, चाहे हनुमान्‌जी हों, शिव ही हुए।—रा० गौड़।

नोट—कुछ राजापुरकी पोथीहीमें नहीं वरन् अन्य भी समस्त रामचरितमानसकी प्रतिलिपियोंमें तापका प्रसंग ज्यों-का-त्यों मिलता है। इसपर भी इसको क्षेपक कहकर निकाल डालनेपर तुल जानेका साहस करना (और पंजाबीजी एवं विनायकी टीकाकारने तो उसपर क्षेपककी मुहर लगाकर उसे निकाल ही दिया है) अथवा उसको बेढंगा या कुढंगा कहनेका हमको क्या और किस हदतक अधिकार है यह बात पाठक

स्वयं ही विचार करें। यह तपस्वी कौन था इसके बारेमें पूज्य कवि जब स्वयं कह रहे हैं कि *'कवि अलखित गति।'* अर्थात् कवि उसको नहीं पहचान सकते, इसीसे नहीं कह सकते कि वह कौन था। जब कवि ही उसको नहीं बता सकते, तो व्यासलोग अपनी बुद्धि इस विषयमें अनुमानसे लड़ानेका परिश्रम ही क्यों करते हैं? ऐसा निश्चय है कि जिस समय सब ग्रामवासी यह कहकर पछता रहे थे कि *'रानी राय कीन्हि भल नाहीं'* ठीक उसी समय यह तापस आया है। इसको देख ग्राम-नर-नारी भी एकटक देखते रह गये, बातचीत बंद हो गयी और जब दण्डवत्-प्रणाम आदि करके उसको छुट्टी मिली तब फिर ग्रामवासी ज्यों-के-त्यों बातें करने लगे।

यह ठीक है कि इस तरह अन्यत्र कहीं कोई प्रसंग नहीं लिखा गया। पर ऐसा प्रसंग भी शायद कहीं नहीं आया कि बीचमें कोई पात्र कहीं इस तरह आ गया हो और उसके आनेसे दूसरे खामोश हो गये हों। ग्राम नर-नारी तो इसको देखकर मुग्ध हो गये, वे तो स्वयं पूर्व-प्रसंग छोड़कर इसके प्रभुसे मिलापकी प्रशंसा करने लगे थे—जैसा *'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥'* इस अर्धालीसे स्पष्ट है। बस, जैसा-जैसा उस समय होता गया वैसा ही कवि लिखते गये।

रहा, सबसे बड़ा खटका और सबसे बड़ी अड़चन कि उसका लौटना वर्णन नहीं किया गया जिससे सब कोई इस प्रसंगपर शंकाएँ करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि—(१) ऐसे प्रेमीका आकर प्रभुसे मिलना कहकर उसका वियोग कराना उचित न समझा गया; शिशु माता-पितासे कैसे अलग हो—*'जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।'* पुनः, (२)—तापसको प्रेममूर्ति और रामको परमार्थमूर्ति कहा है। प्रेम और भगवान्‌में भेद नहीं। प्रभुसे पृथक् प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं। ऐसे प्रेमी और भगवान् दो नहीं—एक जान और दो कालिब—*'देखियत भिन्न न भिन्न।'* प्रेमपागल रसखानने भी कहा है—*'प्रेम हरीको रूप है वे हरि प्रेम स्वरूप। एक होय दोमें लखै ज्यौं सूरजमें धूप॥'* जब ये दोनों एक हैं जैसे सूर्य और घाम; पृथक् हो ही नहीं सकते तो जाना कैसे कहें?

नोट—☞ यहाँतक प्र० संस्करणमें लिखा गया था। ☞ स्मरण रहे कि *'उतरि नहाए जमुन जल'*......॥' (१०९) से *'चले ससीय मुदित दोउ भाई।'* (११२।१) तक किसी भी तीरवासी नर-नारीका लौटना नहीं कहा गया है तब इस तापसका बिदा किया जाना कैसे कहते? ये सब देखकर प्रेममें मग्न दर्शन कर रहे हैं।

सिद्धान्त तत्त्वदीपिकाकार लिखते हैं कि—*'सुनि यह पञ्चरात्र है कथा।' कहि बसिष्ठ रामायण यथा। कहै कृपावति अग्नि सुभक्त। सिय रघुबर पद सों अनुरक्त॥ पुत्र भाव नित हिय में राखै। जननी ज्यों सियको अभिलाषै॥ इंद्रहु यहै भाव हिय धारै। भये सु लै लवकुश अवतारै। भावी पुत्र ताहि हिय जानि। ता पर निज बालकता आनि॥ पिय सिय अग्नि बसन को कही। यहै जानि जानकि तहँ रही॥'* श्रीबैजनाथजी इस उद्धरणके आधारपर अनुमान करते हैं कि अग्नि बालरूपसे आया। श्रीसीतारामजी उसे पुत्र करके मानते हैं इसीसे बराबर संग रखा। पर उनका निज मत यह है कि कवि उसको नहीं जानते अतः कल्पना करना व्यर्थ है।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीका मत भी 'कवि' तुलसीदासजीके पक्षमें है। वे लिखते हैं कि 'यह प्रसंग उस समयका है, जब रामजी प्रयागराजसे चित्रकूट जा रहे हैं। रास्तेमें यमुनाजी मिलीं, वहींसे बटुओंको बिदा करके भगवान् यमुनापार उतरे। यह स्थान गुरौली घाटके आस-पास रहा होगा। कविकी जन्मभूमि राजापुर यहाँसे निकट है। कौन कह सकता है कि अपनी जन्मभूमिके निकट अपने इष्टदेवका आना वर्णन करते-करते भावके आवेशमें कविके लिये भूत वर्तमानमें परिणत न हो गया हो और आप अपने इष्टदेवके चरणोंमें *'परेउ दंड जिमि अवनि तल दसा न जाइ बखानि'* की दशाको न प्राप्त हो गये हों। *'कबि अलखित गति बेष बिरागी'* से भी यही ध्वनित होता है। यहाँका कवि शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। और कहीं उल्लेख न आना, बिदाई न कहना आदि शंकाओंका समाधान सहजमें ही हो जाता है।

कैलासवासी बाबू बैजनाथदास रिटायर्ड जज (काशी) का मत कि विनय-पत्रिका २६४ वाँ पद *'तुलसी तोको कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो'* इसी चरित्रका संकेत है।'

बाबा जयरामदास दीनजी भी इस तापसको तुलसीदासजी ही मानते हैं। वे लिखते हैं कि 'जब ग्रन्थकार यमुनापार होनेका चरित लिखकर वहाँके तटवासी ग्रामीण मनुष्योंके आनन्दकी कथा, जो श्रीकृपाल प्रभु (श्रीसीता-राम-लक्ष्मण) के प्राप्त होनेसे उन्हें मिल रहा था, रचने लगे तो आपकी अपने निवास-स्थानके सम्बन्धसे करुणार्द्र चित्तवृत्तिमें एक प्रेमभाव उत्पन्न हो उठा।''''''श्रीग्रन्थकार इस भावको स्मरणकर भगवत्प्रेममें मग्न हो गये कि 'यही भूमि है, जहाँ यह अभागा कलियुगमें प्रवासी बना; यदि कहीं त्रेतायुगमें ही इसका जन्म हुआ होता तो सम्पूर्ण ग्रामवासियोंकी भाँति यह आत्मा भी मङ्गलमूर्तियोंकी साक्षात् सन्निधि प्राप्त कर कृतार्थ हो गया होता।' यह अनुरागदशा इतनी गहरी तहतक पहुँची कि देहानुसंधान जाता रहा और लेखनी हाथसे छूटकर गिर पड़ी। भक्तवत्सल भगवान् सच्चे प्रेमकी आर्तदशाका निरीक्षण कर''''''उनके अन्तःकरणमें अनुज-जानकी तथा निषादराजसहित प्रकट हो गये और जो कल्पना उनके हृदयमें स्फुरण हो रही थी, उसकी पूर्तिके लिये दूसरे ग्रामवासियोंकी ही भाँति हृदयानुसंधानद्वारा मानसिक मिलन उसी प्रकार प्रदान कर दिया, जैसा इन ८ चौपाइयों और १ दोहेमें वर्णित है। तात्पर्य श्रीविरदपाल प्रभुने अपनी भक्तवत्सलतासे इस बातका पूर्ण संतोष प्रदान कर दिया कि ग्रन्थकारको कोई पश्चात्ताप न रह जाय, उनका भी मिलना स्वीकार है। श्रीरामचरितमानसमें यह स्थल अपूर्व और दिव्य है। जब श्रीगोस्वामीजी इस आनन्दको उपलब्ध कर सचेत होते हैं तो क्या देखते हैं कि वही बातें, जो आपको ध्यानमें स्फुरित हुईं, ग्रन्थमें आपके द्वारा रचित चौपाईसे आगे ८ चौपाई और १ दोहेमें ज्यों-की-त्यों लिखी विद्यमान हैं। इस दिव्य महाप्रदानका साक्षात्कार कर गोस्वामीजी कृतकृत्य हो जाते हैं और अपनेको धन्य मान उस प्रसादको यथास्थान ज्यों-का-त्यों सुरक्षित कर उसे भी अपने ग्रन्थकी मूल संख्यामें जोड़ पहले छोड़ी हुई कथासे मिलाते हुए आगेका वर्णन आरम्भ करते हैं। एक प्रमाण ग्रन्थकारकी मुग्धहृदयताका पोषक और भी है, जो उनके आनन्दकी सीमाको स्मरण करा रहा है, वह यह है कि इस दिव्य सुखानुभूतिसे जगनेपर उस प्रेमशिथिल हृदयसे नवीन पद रचनेकी चैतन्यता भी शिथिल हो गयी और अपना ही पूर्वरचित पद जो शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर दोहा ८८ के आगे चौपाईमें शृङ्गवेरपुरवासी नर-नारियोंके मुखसे कहला चुके थे वही अक्षर-अक्षर फिर दोहरा उठे।

'इस तापसप्रसंगके शब्दार्थोंकी तारतम्यता विचारनेमें भी कोई खटकनेवाली बेमेल बात नहीं प्रतीत होती। विरक्त वेषको 'तापस' कहना उचित ही है। 'तेजपुञ्ज' ब्राह्मणशरीर स्वभावकर्मानुसार होती ही है। 'लघुवयस' *'बालक सुत सम दास अमानी'*—इस वचनसे सिद्ध ही है। *'सुहावा'* भजनानन्दका स्वरूप ही है। और आपके *'मन क्रम बचन राम अनुरागी'* होनेके बारेमें क्या कहना है! *'कबि अलखित गति'* तो मानो इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहा गया है कि सचमुच यह दैहिक मिलन न होकर केवल मानसिक सन्निधिका ही प्रकरण है। जब मानसके कवि स्वयं ही देहानुसंधानरहित (बेहोश) दशामें हैं, तभी तो उनमें लिखनेकी शक्ति नहीं है। अतएव *'अलखित गति'* यथार्थ संगत है। *'सजल नयन तनु पुलक'* आदि सात्त्विक भाव प्रेम-दशामें होते ही हैं। 'प्रेम' और 'परमार्थ' के मिलनकी उपमा भी गोस्वामीजी और सरकारके लिये सर्वथा सार्थक है। श्रीलखनलालके पग लगना तथा श्रीसीताचरणरजको मातृभावानुसार शीश धरना ग्रन्थकारके ही भावोंके द्योतक हैं। निषादराजका वर्णाश्रम-धर्मानुसार ब्राह्मण, संतवेष एवं विरक्त श्रीगोस्वामीजीको मर्यादा देना मर्यादापुरुषोत्तमको अभीष्ट ही है। *'पियत नयन पुट रूप पियूषा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥'* के भावनार्थ तो करुणा ही उठी थी, जो सदा अनन्तरूपसे प्रदान की गयी है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द श्रीगोस्वामीजीके ही लिये संगत हो जाता है। अतएव जिस प्रकार विनयपत्रिकाके अन्तिम पद *'मारुति मन''''''मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ हाथ सही है।'* से श्रीरामदरबारकी सही प्राप्त है तथा श्रीरामगीतावली आदि अपर ग्रन्थोंके मार्मिक पदों—*'राम लषन रिपुदवन भरतके चरित*

सरित अन्हवैया। तुलसी तबके-से अजहुँ जानिये रघुबर नगर बसैया॥' 'तुलसी राम बलि जस बरनत सो समाज उर आनी॥'—द्वारा भी इस रहस्यकी पुष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत यह प्रसंग अनन्यभक्तिभूषण गोस्वामी तुलसीदासजीके ही प्रेम-मिलनके परमानन्दकी सही है। किसी अन्य व्यक्तिके आनेकी भिन्न कथा नहीं है। इसे भगवद्भक्त कदापि आश्चर्य न मान भगवान् शिवजीके इस वचनपर विश्वास कर मग्नचित्त होनेकी श्रद्धा करें—*'जाकें हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥'*

इस अनुमानकी पुष्टिमें वे लिखते हैं कि 'यदि ग्रन्थकारको किसीके भी आगमन या मिलनकी कथा रचनी होती तो उसका स्पष्ट नाम लिखनेमें क्या आपत्ति थी—चाहे वह अग्निदेव हों या वाल्मीकिजी, चित्रकूट ही हों या सूर्य, अगस्त्यके शिष्य हों या स्वयं अगस्त्यजी हों। क्या उपर्युक्त नामोंका उल्लेख न करनेका ग्रन्थमें कहीं किंचित् भी खयाल रखा गया है? कदापि नहीं।……जहाँ भी जिस किसीका रामचरितसे सम्बन्ध दिखाया गया है, उसका नाम भी आवश्यकतानुसार हर जगह अवश्य दिया है। फिर यहाँ तो ऐसा करना अति आवश्यक था, कारण कि जिसका इतने आह्लाद एवं प्रेमसे ८ चौपाई और एक दोहेमें मिलनवर्णन किया गया हो उसका नाम-पता न बताना कैसे सम्भव है? इसलिये कविके लिये तो जानकर छिपाना असम्भव है। इसी प्रकार कविको मालूम न होना उससे भी अधिक आश्चर्यमय है जब कि *'बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना॥'* से स्वयं प्रभुके मनका अनुमानतक भी ज्ञात हो गया है। क्योंकि अन्तर्यामी सूत्रधार श्रीरामजी *'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'* तब उसकी जानकारीसे रचनाके प्रसंगका कौन अङ्ग बाकी रह सकता है? अत: निश्चय मानना पड़ता है कि यह प्रसंग ग्रन्थकारका रचित होना सम्भव नहीं। परन्तु आधुनिक क्षेपकोंकी भाँति ग्रन्थरचना हो जानेके पश्चात्का भी यह प्रसंग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि सभी प्रामाणिक प्रतियोंमें पाये जानेके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रमाण इसके ग्रन्थके अन्तर्गत होनेका यह है कि स्वयं ग्रन्थकारने ही इसे अपनी नियमित संख्यामें जोड़कर ग्रन्थका मूल स्वीकार कर लिया है। तात्पर्य, श्रीगोस्वामीजीके रचनाकालमें ही इस प्रसंगका बीचमें रचा जाना और किसी ऐसे पूज्यके द्वारा रचित होना सिद्ध होता है, जिसको ग्रन्थकारने हृदयसे स्वीकारकर अपने ग्रन्थमें मूलरूपसे माननेका एक आह्लादपूर्ण विषय बना लिया है। क्योंकि इसे प्रेमभावानुसार ही ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों भगवत्-प्रसाद मानकर अचल स्थान देकर अपने नियम-भङ्गकी संख्या अङ्कित करनेमें भी हर्ष माना गया है।

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी लिखते हैं कि जो लोग क्षेपक नहीं मानते वे लोग अनेक प्रकारकी कल्पना करके—कामद, चित्रकूट, अग्नि, इन्द्र,गोस्वामीजी और वाल्मीकिका शिष्य आदि किसी एकको तापस सिद्ध करनेके लिये सारी तर्कबुद्धि लगा देते हैं। वैसे ही एक कल्पना यह भी हो सकती है कि 'वन-यात्रामें श्रीरामजीके अनेक प्रेमी भक्त मिले हैं। यदि केवल सबका नाममात्र लिखा जाता तो महाभारतसे भी बड़ा पोथा हो जाना असम्भव नहीं था तथा सबका नाम भी कौन जान सकता है और यदि मान लिया जाय कि जिनका नाम लिखा गया है वे ही मात्र मिले थे तो भी नहीं बनता, अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अनेक ऐसे भी प्रेमी वनमें मिले थे जिनको कि श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके अतिरिक्त चौथा व्यक्ति उन्हें न पहिचानता ही था और न उनका नाम ही जान सका था। उन्हीं प्रच्छन्न प्रेमियोंका यह तापस भी एक उदाहरणस्वरूप रहा होगा।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि—(१) यदि शिवजी तपस्वी-रूपमें होते तो श्रीरामजी उनको दण्ड-प्रणाम करने नहीं देते और जानकीजी भी शिशु जानि आशीर्वाद न देतीं। (२) श्रीहनुमान्जी जब विप्ररूपसे मिले तब भी श्रीरामजीको पहचान न सके। अत: हनुमान्जीका होना असम्भव-सा है। (३) अग्निदेव आदि तो प्रेमकी मूर्ति नहीं हैं, वे तो स्वार्थी हैं। अत: ध्यानमग्न तुलसीदास ही होंगे और शिवजीने दो अर्धालियाँ, एक दोहा और उसके पश्चात् छ: अर्धालियाँ गुप्तरूपसे लिख दीं यह श्रीजयरामदास 'दीन' का अनुमान उचित लगता है। कारण कि उनको जो चित्रकूटमें श्रीरामजीका दर्शन हुआ था, उसकी स्मृति होना असम्भव नहीं है।

साकेतवासी पं० बद्रीनारायण त्रिपाठी एम्० ए० कहते थे कि यह तापस मूर्तिमान् प्रेम ही था। आगे चलकर कविको श्रीभरतजीका प्रेम लिखना है। *'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को'* उस प्रेमकी दशाको कवि कैसे लिखेगा? उनका लक्ष्य करानेके लिये 'प्रेम' स्वयं मूर्तिमान् होकर आया। परम सुकृती अनुभवी पुरुषोंका अनुभव सत्य ही होता है। श्रीजनकजी अपना अनुभव कहते हैं—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'* (१। २१६। २) इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव *'की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार।'* (कि० १) है। ये ग्राम-नर-नारी भी परम सुकृती हैं जो भगवान्‌का दर्शन कर रहे हैं और उनके प्रेममें मग्न हैं। इनका अनुभव भी असत्य नहीं हो सकता। वे सब-के-सब एक स्वरसे कहते हैं—*'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरें तन (कह सब कोऊ)॥'* (१११। २) इन दोनोंमेंसे श्रीरामजी तो परमार्थरूप हैं ही, यथा—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'* (९३। ७) तब दूसरा 'प्रेम' ही हुआ जो 'तन धर' कर आया है और इसीसे उसे प्रभु हृदयसे लगाते हुए पुलकित हो रहे हैं। इतना ही नहीं वरंच ऐसे सुखी हो रहे हैं *'परम रंक जनु पारस पावा॥'* जैसे परमदरिद्र पारस पानेसे सुखी हो।

तापसको तेजपुञ्ज, लघु वयस्, वेष विरागी, मन-क्रम-वचन-राम-अनुरागी-विशेषण दिये गये हैं; वे सब प्रेममें घटित होते हैं। प्रेममें तेज होता ही है, प्रेमी प्रेममें हेमपिण्डवत् हो जाता है। महाप्रभु कृष्णचैतन्यके चरितमें प्रियादासजीने स्वयं यह बात कही है। भगवान् तेजपुञ्ज हैं—*'रबि सत कोटि प्रकास'* **'धरमकेतु सतकोटि सम'** इत्यादि। पुनः यथा—*'राजन राम अतुल बल जैसें। तेजनिधान लषन पुनि तैसें॥'* (१। २९३। ३) प्रेमका भगवान्‌से तादात्म्य होनेसे वह भी तेजपुञ्ज हुआ ही चाहे। प्रेमको शिशु कहा गया है, यथा—*'ता पर राम पेम सिसु सोहा।'* (२८६। ६) *'जननि जनक सिय राम प्रेम के।'* (१। ३२। ४) (चरितको श्रीसियरामप्रेमका माता-पिता कहा है। नाम, रूप, लीला और धाम चारोंको भगवान्‌का विग्रह कहा गया है। इस तरह श्रीसीतारामजी प्रेमके माता-पिता हैं)। आगे श्रीजानकीजीने तापसको आशीर्वाद इसी भावसे दिया है।—*'जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।'*—अतः *'लघु बयस'* कहा *'बेषु बिरागी'*—प्रेमी तो परम वैराग्यवान् होता ही है।—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥'* (३२४। ८) प्रेमीको मन, कर्म और वचनसे श्रीरामानुरागी होना ही चाहिये; यदि इनमेंसे कोई भी त्रुटि है तो भगवान् कोसों दूर हैं, उनसे भेंट कहाँ? जबतक तीनों लोकोंके विषयोंसे वैराग्य न होगा तबतक प्रेम कहाँ? प्रेमी तो *'बचन कर्म मन राम गति भजन करहिं निःकाम'* भक्ति कामनाके लिये नहीं होती, वह तो निरोधरूपा है—**'सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।'**(ना० भ० सू० ७) और निरोधका लक्षण है—लोक-व्यवहारका त्याग।—**'निरोधस्तु लोकव्यापार-न्यासः।'** (ना० भ० सू० ८) तथा प्रियतम प्रभुमें अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता—**'तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।'** (ना० भ० सू० ९)

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥ १॥
मनहुँ प्रेम परमारथु दोऊ। मिलत धरें तन कह सबु कोऊ॥ २॥
बहुरि लषन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा॥ ३॥
पुनि सियचरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा॥ ४॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥ ५॥
पिअत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीने प्रेमपूर्वक पुलकित होकर उसे हृदयसे लगा लिया (तापसको इतना सुख मिला) मानो महादरिद्री पारस पा गया॥ १॥ (इनका परस्पर मिलाप देखकर) सब कोई (देखनेवाले) कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेम और परमार्थ शरीर धारण करके मिल रहे हैं॥ २॥ फिर वह लक्ष्मणजीके चरणोंसे जा लगा अर्थात् उनके चरणोंपर पड़ा, उनको प्रणाम किया, चरण छुए। अनुरागसे

उमगकर लक्ष्मणजीने उसे उठा लिया॥ ३॥ फिर उसने श्रीसीताजीके चरणरजको सिरपर धारण किया (लगाया)। माताने बालक जानकर उसे आशीर्वाद दिया॥ ४॥ निषादराजने उसको दण्डवत् किया और श्रीरामजीका प्रेमी जानकर वह उससे आनन्दित होकर मिला॥ ५॥ वह तपस्वी नेत्ररूपी दोनोंके द्वारा श्रीरामजीके रूपामृतको पी रहा है और ऐसा आनन्दित है जैसे कोई भूखा सुन्दर उत्तम भोजन पानेसे आनन्दित हो॥ ६॥

नोट १—यहाँ तपस्वी प्रेमकी मूर्ति है और श्रीरामजी परमार्थकी, यथा—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'* इस कथनसे दिखाया कि भगवत्-प्राप्ति प्रेमसे ही होती है।

नोट २—यहाँ दो उत्प्रेक्षाएँ की गयीं। एक परम दरिद्रके पारस पानेकी; दूसरी प्रेम-परमारथके परस्पर मिलनेकी। पहलेमें श्रीरामजी दरिद्रके स्थानपर और तपस्वी पारसके स्थानपर हैं। इससे दिखाया कि भगवान् अपने प्रेमीको पाकर कैसे आनन्दित होते हैं। यह तपस्वी श्रीरामजीको ऐसा लगता है जैसे महादरिद्रको पारस। वह पृथ्वीपर पड़ा था मानो पारस पड़ा था, उसे श्रीरामजीने उठा लिया। दरिद्रको पारस महान् दुर्लभ, वैसे ही श्रीरामजीको प्रेम महादुर्लभ। भगवान्‌को आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी भक्त तो बहुत मिलते हैं पर *'सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन', 'मन क्रम बचन राम अनुरागी', 'राम भगति रत गत मद माया'* ऐसा प्रेमी तो असंख्योंमें कोई एक मिलता है। अतएव उसे पाकर प्रभु बड़े ही आनन्दित हो जाते हैं। और दूसरीमें यह भी दिखाया कि प्रेमीके लिये तो रामजी परमार्थ भी हैं और अर्थ भी। श्रीरामजी ही उसके परम प्राप्य हैं। (किसी-किसीका मत है कि पहलेमें तपस्वी परमरंक है और राम पारस हैं। परन्तु रामजीने उसको उठाया और छातीसे लगाया, इससे यह ठीक जँचता है कि वह पारस है जो पड़ा हुआ महादरिद्रको मिल गया, उसके पास स्वयं आ प्राप्त हुआ, इसीसे उसके आनन्दकी सीमा नहीं।)

नोट ३—*'कह सब कोऊ'* अर्थात् जो स्त्री-पुरुष वहाँ खड़े थे और अभी विषाद कर रहे थे, वे इसे देखकर वह वार्ता छोड़के इसके मिलापको देखने लगे और ऐसा कहने लगे। पुनः, *'सब कोऊ'* अर्थात् कविका भी यही मत है और प्राचीन ऋषियोंने भी ऐसा ही कहा है।

नोट ४—*'लीन्ह उठाइ उमगि·····'* अर्थात् तुम हृदयमें रखने योग्य हो, यह भी जनाया। परम भागवत है इसीसे लक्ष्मणजीने प्रेमसे तुरन्त उठा लिया।

नोट ५—*'जननि जानि'* यह दीप-देहलीसे दोनों ओर है। तपस्वीने माता जानकर सिरपर पदरज धारण किया और उन्होंने पुत्र जानकर आशीर्वाद दिया। ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री जानकर चरण-स्पर्श या साष्टाङ्ग दण्डवत् नहीं किया।

नोट ६—*'कीन्ह निषाद दंडवत·····लखि राम सनेही'*—भाव कि ऐसी नीच जाति होनेपर भी कि *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'* उस रामभक्त निषादको तपस्वीने छातीसे लगा लिया। यह हम सबको शिक्षा है कि कोई भी भगवद्भक्त, कैसा ही नीच क्यों न हो, हमें उसको देखकर प्रसन्न होना चाहिये और उससे घृणा न करनी चाहिये। क्योंकि राम-भक्तकी कोई जाति नहीं रह जाती, वह तो अच्युत गोत्र हो जाता है। ना० भ० सूत्रमें कहा है—**'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'** (७२) अर्थात् उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है। जिनमें यह भेद-भाव हो उन्हें रामभक्त न समझना चाहिये। यहाँ मित्रपक्षीय प्रत्यनीक अलंकार है।

नोट ७—*'पिअत नयनपुट रूप पियूषा।·····'* इति। (क) पीनेके लिये पात्र चाहिये, यहाँ नेत्र पात्र हैं, रूपकी माधुरी अमृत है। भाव कि बड़े चावसे एकटक वह प्रभुकी रूप-माधुरीका अवलोकन कर रहा है। यहाँ पीनेको अमृत मिला, इससे तृप्ति हुई। (पं० रा० कु०) [अथवा, *'पिअत'* वर्तमानकालिक क्रिया देकर जनाया कि रूपामृतका पान करता है, उससे अघाता नहीं। इसी तरह प्रभुके श्रीमुख-वचनों और उनकी कथाको अमृत कहकर श्रोताओंने अपने कानों आदिका अघाना नहीं कहा है। यथा—*'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरषाऊँ॥'* (७। ८८। २) *'नाथ तवानन ससि स्त्रवत कथा*

सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥' (७। ५२) श्रीभरतजीने भी कहा है कि *'दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन।'* (२६०) हाँ, इतनी बात अवश्य है कि श्रीभरतजीने सङ्कोचवश कभी सिर उठाकर ऐसा दर्शन नहीं किया जैसा यह तापस एकटक दर्शन कर रहा है। श्रीमनुशतरूपाजीको भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था—*'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'* (१। १४८) वैसे ही यह तापस तृप्त नहीं होता। उसे 'प्रेम' कहा है, तब प्रेमको तृप्ति कहाँ?] उत्तम भोजन पेटभर पानेसे सबको तृप्ति होती और आनन्द होता है, पर जो भूखा हो उसे मिल जाय तो आनन्दका ठिकाना नहीं वैसे ही इसके आनन्दका क्या कहना? (पं० रा० कु०) यहाँ 'परंपरित रूपक और उदाहरण अलंकार' है। देखिये, वनमार्गमें मिलनेसे नेत्रोंको दोनोंका रूपक देना कैसा उत्तम है! यहाँ पत्ते ही तो बहुत होते हैं।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥७॥
राम लषन सिय रूप निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी॥८॥
दो०—तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह॥१११॥

अर्थ—हे सखि! कहो तो वे माता-पिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे(सुन्दर, सुकुमार, नेत्रोंमें रखने योग्य) बालकोंको वन भेज दिया॥ ७॥ श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीके रूपको देखकर वे स्त्री-पुरुष स्नेहके मारे व्याकुल हो जाते हैं॥ ८॥ तब रघुवीर श्रीरामजीने बहुत तरहसे सखाको शिक्षा दी अर्थात् समझाया। श्रीरामजीकी आज्ञा सिरपर धारणकर वह घरको चला॥ १११॥

नोट १—इन चौपाइयोंके ऊपर पं० शिवलाल पाठक एक अर्धाली और लिखते हैं—*'उर धरि ध्यान रजायसु पाई। चल्यो मुदित मन अति हरषाई॥'* पर यह अर्धाली और कहीं नहीं मिलती।

नोट २—(क) ग्रामवासियोंके सविषाद पश्चात्तापका प्रसङ्ग अब फिर उठाया। बीचमें तपस्वीजी आ उपस्थित हुए थे तब वे सब उनके तेज, प्रेम आदिको देख ठिठककर रह गये और उनकी रामजीसे भेंटकी प्रशंसा करने लगे—*'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥'* अब सावधान हो वे पुनः विषादके वचन कहने लगे। जैसा हुआ वैसा ही ज्यों-का-त्यों कविने लिख दिया। (ख) प्रसङ्ग इसपर छोड़ा था कि राजा-रानीने अच्छा नहीं किया, बस वहींसे फिर प्रसङ्ग उठाते हैं कि वे माता-पिता (रानी-राजा) कैसे कठोरहृदय हैं।

वि० त्रि०—पहिले कह आये हैं कि *'सुनत तीरबासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥'*, सो पहिले नर-समाजमें जो बातें हुईं उन्हें लिखा, उसके बाद तापस-प्रसङ्ग चल पड़ा। उससे पता चला कि यह तापस भी उन्हीं तीरवासियोंमें था, पर इसे माहात्म्यका ज्ञान था, अतः इसके मिलने और अन्य लोगोंके मिलनेमें बड़ा भेद था, इसलिये यह प्रसङ्ग ही अलग लिखा। बिदाईकी कोई बात ही नहीं थी। सभी रामजीको देखते रह गये। उसी भाँति यह तपस्वी भी *'पियत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥'* देखता रह गया। इसके पश्चात् नारी-समाजमें जो बातें हुईं उसे लिखते हैं। 'सखि' सम्बोधनसे ही स्पष्ट है कि ये नारी-समाजकी बातें हैं। नर-समाजमें वयोवृद्धोंसे पता चल गया था, अतः वहाँ बात हो रही है कि *'रानी राय कीन्ह भल नाहीं।'* (तथा वैसे ही) नारी-समाजमें बात हो रही है कि *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठये बन बालक ऐसे॥'*

नोट—३ इस चौपाईका भाव पूर्णरूपसे कवितावलीके *'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहनहूँ तें कठोर हियो है। राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जेहि कान कियो है॥ ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है। आँखिनमें सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है॥'* (२२। २०) इस पदमें है।

नोट ४—इस ग्रन्थमें अनेक स्थलोंपर एक ही चरण या एक ही अर्धाली जो पूर्व कही गयी है फिर दुबारा दी गयी है। उदाहरणार्थ कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

(१)*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥'* यह शिवजीका वाक्य (बा० ७७। २) में है; और फिर अ० २१३ (३) में भी है।

(२)*'तप बल संभु करहिं संघारा'* (१। ७२) में है और फिर (१। १६३। ३) में भी आया है। यहाँके अन्य चरण भी एक ही अर्थके हैं।

(३)*'आगें रामु लषन बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥'* अ० १२३ (१-२) की यह चौपाई (आ० ७) से मिलती-जुलती है। (३। ७। २-३) इस प्रकार है—*'आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें॥ २॥ उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥ ३॥*

(४) *'कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।'* (४। ५। ७) उसी काण्डमें पुनः दोहा (७। ११) में है।

(५) *'रामचरन पंकज उर धरहू'* यह चरण सुं० २३ (१) और लं० (१। ८) में है।

तथा यहाँ, (६) *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे। राम लषन सिय रूप निहारी।'* के ये तीन चरण पूर्व दोहा ८९ में इस तरह हैं—*'राम लषन सिय रूप निहारी।'''''' ॥ ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* (१-२) और 'राम लषन सिय रूप निहारी' फिर आगे ११४। ३ में है।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि चन्दबरदाईने 'पृथ्वीराज रासो' में आदि पर्वमें इसी प्रकार एक छंदको दो-दो बार लिखा है।

बाबा जयरामदास 'दीन' जी कहते हैं कि दोहा ८९ की ही चौपाई यहाँ दुबारा आनेका प्रधान कारण श्रीगोस्वामीजीके मनकी मुग्धता है, जो प्रभुके साक्षात् मानसिक मिलनके समय हुई थी। दूसरा भाव यह है कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताको सिर-आँखोंपर रखनेयोग्य सुकोमल मनोहर त्रिमूर्तियोंका वनके कठिन मार्गमें पैदल चलना प्रत्येक नर-नारीके लिये असह्य हो गया था, इसीसे जहाँ-तहाँ सबके मुखसे हर जगह यही शब्द निकल रहे थे—*'ते पितु मातु कहहु सखि''''''।'* (मानस-रहस्य)

टिप्पणी—१ *'तब रघुबीर अनेक बिधि'''''' '* इति। गुह साथ छोड़ना नहीं चाहता था, इसीसे उसे बहुत तरह समझाना पड़ा। वह समझाये नहीं मानता था तब रघुवीर रामजीने उससे यह कहा कि हमें किसीका भय नहीं है कि रक्षाके लिये किसीको साथ लेना पड़े। यह भाव 'रघुवीर' पद देकर सूचित किया गया है। पुनः, गुहने *'रघुबीर दोहाई'* शब्द कहकर शपथ की थी, यथा—*'तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई॥'* (१०४। ६) अतएव लौटानेमें भी *'रघुबीर'* पद दिया गया।

नोट—५ अध्यात्मरामायण सर्ग ६ में लिखा है निषाद प्राण त्याग करनेको कहता था—(पर मानस-कल्पका निषाद ऐसा नहीं है,यहाँ सेवक-धर्मका पूरा निर्वाह है। वह रामशपथ कर चुका है कि आज्ञा मानूँगा।) तब रामजीने उसे समझाया कि १४ वर्ष ही तो बाहर रहना है, हम अवश्य लौटेंगे, हम कदापि असत्य नहीं बोलते, लौटनेमें तुम्हारे यहाँ फिर आवेंगे। (अ० रा० २। ६। २४—२६) विशेष उदासीरूपसे वनवासकी आज्ञा है, साथ रखनेमें पिताके वचनका उल्लङ्घन होगा, इत्यादि। और भी विधि, यथा—तुम्हारे सम्बन्धी चिन्तित होंगे। क्योंकि उनसे कह आये हो कि चार दिनमें लौटोगे। हम-तुम दोनों झूठे पड़ेंगे। पुनः तुम्हें साथ देख और भी लोग साथ रहनेका हठ करेंगे अब मार्ग मालूम हो ही गया है, हम चले जायँगे। इत्यादि।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप (इसे) दिखाया गया है। यही कारण है कि इसके दर्शन पाकर निषाद यहींसे लौट जायँगे; क्योंकि प्रेमकी पूर्णता होनेपर वियोगका अनुभव नहीं होता। अन्यथा वे तो शपथ कर चुके थे कि भगवान्‌के लिये कुटी बनाकर ही लौटूँगा।'

टिप्पणी—२ *'राम रजायसु सीस धरि'* इति। (क)—*'रजायसु'* के साथ *'राम'* पद दिया; क्योंकि रामकी आज्ञा अटल है, सब शिरोधार्य करते हैं, यथा—*'मेटि जाइ नहिं राम रजाई।'* (९९। ७) *'राम रजाई सीस सबहीके।'* (२५४। ८) इत्यादि। (ख)—पुनः, *'राम'* पद दिया कि वे सबमें रमण करते हैं, सब कुछ जानते हैं, वे जानते हैं कि सुमन्त्रजी अभी शृङ्गवेरपुरहीके पास पड़े हैं, जबतक गुह न जायगा उनका अवधको लौट जाना सम्भव नहीं, ये जाकर उन्हें लौटायेंगे; अतएव उन्होंने लौटनेकी आज्ञा दी। पुनः, (ग) राजाकी आज्ञा है इससे माननीय है, अतएव लौटनेमें *'रजायसु'* पद दिया।

पुनि सिय राम लषन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनामु बहोरी॥ १॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥ २॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥ ३॥
राजलषन सब अंग तुम्हारें। देखि सोचु अति हृदय हमारें॥ ४॥

शब्दार्थ—**'रबितनुजा'** (रबि+तनया)=सूर्यकी कन्या, यमुना। *'करम कथा रबिनंदनि बरनी।'* (बा०। २। ९)। ३१ (११) देखिये। **'पथिक'**=राह चलनेवाले, मुसाफिर, यात्री, बटोही। **'राजलषन'**=राज्यलक्षण, राजचिह्न।

अर्थ—फिर श्रीसीता, राम, लक्ष्मणजी-(तीनों-) ने हाथ जोड़कर यमुनाजीको पुनः प्रणाम किया॥ १॥ सूर्यकन्या यमुनाजीकी बड़ाई करते हुए दोनों भाई श्रीसीताजीसहित प्रसन्नतापूर्वक चले॥ २॥ रास्तेमें जाते हुए अनेक राह चलनेवाले मिलते हैं। दोनों भाइयोंको प्रेमसे देखकर प्रेमसहित कहते हैं—॥ ३॥ तुम्हारे सब अङ्गोंमें सब राज्यलक्षण देखकर हमारे हृदयमें अत्यन्त सोच (सन्देह) होता है॥ ४॥

नोट—१ *'पुनि'* अर्थात् गुहको लौटानेपर। *'बहोरी'* से जनाया कि अभी यमुना-स्नान करनेपर प्रणाम एक बार कर चुके हैं और अभी यमुनातटपर ही थे। श्रीभरद्वाजजीके आश्रमसे चलकर यमुना पार होकर वहाँ स्नान करना अर्थात् ठहरना कहा था। वहाँसे चलना नहीं कहा था। तापस-भेंट, गुहविदाई आदि सब प्रसङ्ग यमुना-तटपर हुए। अब वहाँसे चले तब प्रणाम करके चलना कहा—*'चले ससीय मुदित दोउ भाई।'*

नोट २—यमुनाकी बड़ाई करनेमें *'रबितनुजा'* नाम दिया। अर्थात इनका सम्बन्ध सूर्यवंश (रघुकुल) से है। सूर्यकी पुत्री होनेसे इक्ष्वाकुकी फूफू (पिताकी बहिन) और श्रीरामजीके घरकी पुरुषिन हुईं। अतः इनकी प्रशंसा अपना धर्म है। पुनः, यह सम्बन्धी नाम देकर इनका सम्बन्ध अपने कुलसे होना भी कहा। पुनः, पवित्र नदी है, इससे पावन आदि गुणोंकी प्रशंसा की।

वि० त्रि०—*'राजलषन सब अंग''''''हमारें'* इति। रास्ते चलते अनेक पथिक मिलते थे। उनमेंसे एक ज्योतिषी भी थे। सामुद्रिक शास्त्र ज्योतिषका ही अङ्ग है। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजीकी सुन्दरता देखकर और उन्हें पैदल वन जाते हुए जानकर सभीको सोच होता था, पर ज्योतिषीजीको अधिक सोच हुआ, उन्होंने देखा कि राजाके जितने लक्षण शास्त्र कहता है उतने सब किसी राजामें नहीं पाये जाते, सो सब-के-सब इनमें वर्तमान हैं, अतः इन्हें तो भूमण्डलका सम्राट् होना चाहिये, ये इस दीन-हीन दशासे वन जा रहे हैं, यह हुआ क्या? क्या ज्योतिष शास्त्र झूठा हो गया? अतः ज्योतिषीजीको अधिक सोच हुआ।

वि० टी०—सामुद्रिक शास्त्रानुसार राजाओंके कुछ चिह्न ये हैं—१लाल मांसल, पुष्ट तलुवा। २ तलुवेमें पूरी ऊर्ध्वरेखा। ३ काले, नर्म, पतले, एक-ही-एक रोम। ४ सिंहके समान कमर और पेट। ५ छाती चौड़ी, ऊँची और कड़ी। ६ बाहु घुटनेतक लम्बे और हाथीकी सूँड़के समान पुष्ट और सुडौल। ७ हाथकी अँगुलियाँ बड़ी-बड़ी। ८ हाथके पंजेकी पीठ साँपके फनके आकारकी। ९ गोल दर्शनीय मुख। १० शंखके समान त्रिरेखायुक्त गर्दन। ११ मूँगेके समान लाल ओष्ठ। १२ हरतालके रंग-सरीखे नेत्र। १३ सुडौल छोटे छेदके बड़े कान। १४ मस्तकका आकार खुले हुए छातेके आकारका-सा ऊँच-नीच। १५ ललाटमें श्रीवत्स और धनुषका चिह्न। १६ चिकने, नर्म, पतले, लम्बे और घुँघराले बाल''''''इत्यादि।

वाल्मी० ५। ३५ में श्रीहनुमान्‌जीने श्रीराम-लक्ष्मणजीके शरीरोंके कुछ चिह्नोंका वर्णन किया है। कन्धे विशाल हैं, भुजाएँ बड़ी हैं, गला शंखके समान है, मुख सुन्दर माङ्गलिक है, गलेकी हड्डी छिपी हुई है, आँखें लाल हैं। दुन्दुभिके समान उनका कण्ठस्वर है। वर्ण सुन्दर चिकना है। सब अङ्ग शरीरके अनुकूल और अलग-अलग मालूम पड़नेवाले हैं। तीन अङ्ग (जंघा, गट्टा और मुष्टि) स्थिर हैं, तीन लम्बे हैं, तीन बराबरके हैं, तीन (नाभि, काँख और छाती) ऊँचे हैं, तीन (नेत्रोंके कोये, नख, हाथ, पैरके तल) लाल हैं। तीन स्निग्ध हैं, तीन (वचन,गमन और नाभि) गम्भीर हैं। उदर और कण्ठमें त्रिवली है। पैरके तलवे, पैरकी रेखाएँ और स्तनोंके चूचुक गहरे हैं। गला, पीठ, पुरुषचिह्न और दोनों जंघा छोटे हैं। मस्तकपर तीन भँवर हैं। अंगूठेमें चार रेखाएँ हैं। वे चार हाथ लम्बे हैं और उनके हाथ, जानु, जंघे और कपोल ये चारों समान हैं। उनके शरीरके चौदह जोड़े—दोनों भौंहें, दोनों नासिकापुट, दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों ओष्ठ, स्तनोंके दोनों चूचुक, दोनों कुहनियाँ, गट्टे, जानु, अंडकोश, कमरके दोनों भाग, दोनों हाथ, पैर, स्फिक (मुखछिद्रके दोनों सिरे) समान हैं। आगेवाले चार दाँत नुकीले हैं। उनकी चाल सिंह, बाघ, हाथी और बैलके समान सुन्दर है। ओष्ठ, ठोढ़ी और नाक सुन्दर हैं। वचन, मुँह, नख, लोम और त्वचाएँ कोमल हैं। बाहु, नली, ऊरु और जंघे ये आठ लम्बे हैं। मुख, नेत्र, मुखविवर, जिह्वा, ओष्ठ, तालु, स्तन, नख, पैर और हाथ—ये दस अङ्ग कमलके समान तथा पद्मचिह्नसे चिह्नित हैं। छाती, मस्तक, ललाट, गला, बाहु, कन्धे, नाभि, पैर,पीठ और कान—ये दस अङ्ग विशाल हैं। यश, श्री और तेज—ये सब सर्वत्र फैले हैं। माता और पिता दोनों वंश शुद्ध हैं। बगल, कोख, छाती, नाक, कन्धे, ललाट—ये छः ऊँचे हैं। अँगुलियोंके पोर, केश, रोम, नख, त्वचा शेफ, दाढ़ीके बाल, बुद्धि, दृष्टि—ये नौ सूक्ष्म हैं और धर्म, अर्थ, कामका यथोचित सेवन करते हैं।'……लक्ष्मणजी बड़े तेजस्वी हैं, अनुराग, रूप और गुणोंसे श्रीरामजीके समान हैं। ये स्वर्णके समान गोरे हैं और श्रीराम श्यामवर्ण हैं। (श्लोक १५ से २३ तक। श्लोक ८ से १४ तक इनके फल कहे गये हैं।)

मारग चलहु पयादेहिं पाएँ। ज्योतिषु झूठ हमारेंहि* भाएँ॥५॥
आगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहिं सिरु नाई॥८॥
दो०—एहि बिधि पूँछहिं प्रेम बस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बैन॥११२॥

शब्दार्थ—भाएँ=भाव, समझ, विचारमें, यथा—'*नहि भलि बात हमारे भाए*' (ब०)। **पयादे**=पैदल।

अर्थ—(कि राज्यलक्षण होते हुए भी आप) रास्तेमें पैदल ही चल रहे हैं; (इससे) हमारी समझमें ज्योतिषशास्त्र झूठा है॥५॥ रास्ता एक तो कठिन फिर उसमें पहाड़ और भारी वन हैं, उसपर भी आपके साथ सुकुमारी स्त्री है॥६॥ वनमें हाथी और सिंह हैं, वह देखा नहीं जाता अर्थात् इनसे वन बड़ा भयानक लगता है, देखे डर लगता है। यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें॥७॥ जहाँतक आप जायँगे वहाँ पहुँचाकर फिर हम आपको प्रणाम करके लौट आवेंगे॥८॥ इस प्रकार प्रेमके वश होकर वे पूछते हैं, उनके शरीर पुलकित हैं, नेत्रोंमें जल भरा है। दयासागर श्रीरामजी नम्र कोमल मीठे वचन कह-कहकर उन्हें लौटाते हैं॥११२॥

नोट—१ '*ज्योतिषु झूठ*……' से यहाँ सामुद्रिक शास्त्रसे तात्पर्य है। भाव यह कि जिसमें ये लक्षण

* हमारें—गी० प्रे०। हमारेहिं—का०, रा० प्र०, को० रा०; वि० त्रि०; ना० प्र० स०; भा० दा०।

पाये जायँ उसे राजा होना चाहिये। ऐसा न होकर आपका उदासी वेश है,सवारी, छत्र, चँवर, मुकुट आदि न होकर आप नंगे पैर, पैदल जटाजूट धारण किये और बिना सेना-सिपाहीके वनमें जा रहे हैं। यह उस शास्त्रके विरुद्ध है, यह विपरीत वैचित्र्य देख उसके सत्य होनेमें सन्देह होता है। यहाँ गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

नोट २—*'फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई'* अर्थात् हम कुछ पहुँचाई नहीं चाहते, न कुछ लेंगे, पहुँचाकर प्रणाम करके चले आवेंगें। अतः संग लेनेमें संकोच न कीजिये। (वा भाव कि हम सेवक हैं आप स्वामी हैं। आप संकोच न करें। प० प० प्र०)

नोट ३—*'कृपासिंधु फेरहिं……'* इति। लौटानेका कारण *'कृपासिंधु'* पदसे सूचित किया। क्यों लौटाते हैं? प्रभु सोचते हैं कि हमको तो कोई कष्ट नहीं, इनको व्यर्थ कष्ट होगा, दूना रास्ता नापना होगा, इनको अपना कष्ट क्यों दें। (पंजाबीजी) *'बिनीत मृदु बैन'* यह कि शिक्षित और कोमल मधुर वचन कहकर फेरते हैं कि हमको कोई कष्ट नहीं है, हमारे यहाँ हाथी, घोड़ा, रथ, सेना आदि सब कुछ है, हम अपनेसे ही पिताकी आज्ञा मानकर, सब त्यागकर इस प्रकार वनमें विचरते हैं (पं० रा० कु०)

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं॥ १॥
केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए। धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥ २॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥ ३॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहि सराहहिं सुरपुरबासी॥ ४॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लषन सहित घनस्यामहिं॥ ५॥

शब्दार्थ—पुर=दो-चार घरका छोटा गाँव। नाग नगर=वासुकी आदि नाग देवताओंका लोक जिसका भोगावती नाम है।

अर्थ—जो पुरवे और ग्राम मार्गमें बसे हैं उन्हें नागलोक और देवलोक ललचाकर देखते हैं और उनकी बड़ाई करते हैं कि॥ १॥ किस धर्मात्माने किस शुभ मुहूर्तमें इनको बसाया। ये धन्य हैं, परम पुण्यरूप ही हैं और परम सुहावने हैं॥ २॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी चरणोंसे चलकर जाते हैं उनके समान तो इन्द्रपुरी अमरावती भी नहीं है॥ ३॥ रास्तेके पासके रहनेवाले पुण्यकी राशि अर्थात् बड़े सुकृती हैं, उनकी सराहना देवलोकवासी करते हैं॥ ४॥ कि जो नेत्र भरकर श्रीसीता-लक्ष्मणसहित घनश्याम श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन कर रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'नाग सुर नगर……'* इति। सुरपुरसे अधिक भोग-पदार्थ नागोंके नगरमें हैं, बलि आदि वहीं बसते हैं जो 'शतक्रतु' यज्ञकर्ता हैं; इसीसे 'नाग' को प्रथम कहा। पूर्वार्द्धमें *'पुर गाँव'* दो कहे और उत्तरार्द्धमें *'नाग सुर नगर'* दो कहे; यथासंख्यालंकारसे पुरको देखकर नागनगर और ग्रामको देख सुरनगर सिहाते हैं। वा, दोनोंको देख दोनों ललचाते हैं और सराहते हैं। क्या सराहते हैं यह आगे कहते हैं कि *'केहि सुकृतीं……'* [कहाँ पुर और गाँव दो-चार, दस-बीस घरके और कहाँ नगर हजारों घरका और कहाँ भोगावती, अमरावती ऐसे देवताओंके भोग और ऐश्वर्यपूर्ण लोक! तब फिर भी ये सराहते हैं; इतनेहीमें कितनी प्रशंसा जना दी है। पुनः,भाव कि नागसे पाताल और सुरसे स्वर्गलोकोंके नगरोंसे प्रशंसित हैं तो इस लोकके नगरोंकी बात ही क्या जो कहें। इसीसे केवल नाग और सुरोंके नगरोंको कहा। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार है।]

नोट—१ (क) सिहाना यह कि धन्य इनके भाग्य हैं कि इनमें अप्राकृत श्रीसाकेतविहारी परात्पर ब्रह्म विहार करते विचरते हैं और हमारे यहाँ तो प्राकृत लोग निवास करते और विचरते हैं। हम मार्गपरके गाँव क्यों न हुए। (रा० प्र०)

(ख)—*'गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरवचंदू॥'* (१२२। १) यह आगे कहा है। अर्थात्

जिस ग्रामके पाससे सरकार निकल जाते हैं, वहीं ऐसा आनन्द उमड़ पड़ता है। इसीलिये कहा कि *'जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं॥'* क्योंकि नागनगर या सुरनगरके पास सरकारका पदार्पण न हुआ न होनेकी आशा है, अतः वहाँ न ऐसा आनन्द हुआ न होनेकी आशा है। अतः आज वे उन गाँवोंसे ईर्षा कर रहे हैं। (वि० त्रि०)

(ग) नगर चेतन नहीं जो 'सिहाते' इनसे इनके अभिमानी देवताओंको समझना चाहिये। (पंजाबीजी)। वस्तुतः यहाँ Personification अलङ्कार है। नगरोंसे उनके अभिमानी देवताओंके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है। इस अलङ्कारका भाव आगे *'तिन्ह समान अमरावति नाहीं'* से स्पष्ट है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२—*'केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए।'*······' अर्थात् यदि वह घड़ी जानी होती तो बृहस्पति और शुक्राचार्य हमको उसी शुभ मुहूर्तमें बसाते जिसमें हमारे यहाँ भी ये चरणोंसे चलकर आते। वे सुकृती धन्य हैं जिन्होंने बसाया और वह घड़ी धन्य है। वे पुण्यमय हैं अर्थात् उनके प्रचुर पुण्य हैं।

टिप्पणी—३ *'पुन्यपुंज मग निकट निवासी।'*······' इति। पहले दिखाया कि मार्गके पुर और ग्रामोंको नाग-सुर-नगर सिहाते हैं, अब बताते हैं कि गाँव-पुर-निवासियोंको नाग-सुर-नगर-निवासी सराहते हैं अर्थात् बस्ती बस्तीको और निवासी निवासीको सराहते हैं।

नोट—२ *'घनस्यामहिं'* इति। इसका भाव हरिश्चन्द्रजीके इस पदमें देखिये—*'याही सों घनश्याम कहावत। द्रवत दीन दुर्दशा बिलोकत करुणारस बरसावत॥ भीगें सदा रहत हियरससों जन मन ताप जुड़ावत। 'हरीचंद' से चातक जनके जियकी प्यास बुझावत॥'*

नोट—३ बाबा हरीदासजी—राम और घनश्याम एक ही हैं। प्रथम राम कहकर फिर घनश्याम कहा। जब मेघ बरसते हैं तब श्याम हो जाते हैं। पुनः, जब दामिनी चमकती है और पृथ्वीपर मेघ बरसते हैं तब सब जीव सुखी होते हैं। वैसे ही यहाँ मगवासी और बटोही स्त्री-पुरुष इन तीनोंको देखकर अतिसुखी हुए—श्रीरामजी घनश्यामरूप हैं, सीताजी दामिनीरूप हैं और लक्ष्मणजी धरणीधर शेष महिपालक कारणरूप हैं। नागदेवकी पूजा लोग धरणीकी प्रसन्नता-हेतु करते हैं सो महि प्रसन्न होकर पदार्थ देती है, इस प्रकार धरणी और नागका सम्बन्ध है।

जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव सर सरित सराहहिं॥ ६॥
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥ ७॥
परसि रामपद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥ ८॥
दो०—छाँह करहिं घन बिबुधगन बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग रामु चले मगु जाहिं॥ ११३॥

अर्थ—जिन तालाबों और नदियोंमें श्रीरामजी स्नान करते हैं (वा, उनमें थाह लेते चलते हैं।) उन्हें देवसर (मानससर, नारायणसर, बिंदसर, पम्पासर इत्यादि) और देवनदियाँ सराहती हैं॥ ६॥ जिस वृक्षके नीचे प्रभु जाकर बैठते हैं उसकी बड़ाई कल्पवृक्ष करते हैं॥ ७॥ श्रीरामजीके चरण-कमलकी धूलिका स्पर्श करके पृथ्वी अपना बहुत बड़ा भाग्य मानती है॥ ८॥ मार्गमें बादल छाया करते हैं, देवगण फूल बरसाते और ललचाते हैं। पर्वत, वन, पक्षी और मृगादि पशुओंको देखते हुए श्रीरामजी रास्ता चले जा रहे हैं॥ ११३॥

नोट—१ *'राम अवगाहहिं'* इति। यहाँ *'अवगाहहिं'* पद सार्थक है। इसमें प्रवेश करना, थाह लेते हुए पार होना और स्नान करना सभी आ जाते हैं; क्योंकि सब नदी-तालाबोंमें नहाते तो होंगे नहीं।

देवसर और देवसरिताएँ यह सराहते हैं कि अभीतक हम अपनेको धन्य मानते थे कि देवता लोगोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे हममें स्नान करते हैं। पर ये तो हमसे भी बड़े भाग्यवान् हैं कि इनमें देवताओंके भी देवता स्नान करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि देवसरि गङ्गा सराहती हैं कि हमको तो

पदनखके स्पर्शमात्रसे इतनी बड़ाई मिली और इनको तो सारे शरीरका स्पर्श हुआ फिर इनकी पावनता और प्रशंसा कौन कह वा कर सकता है? टीकाकारोंने देव-सरितासे गङ्गा, यमुना, सरस्वतीका अर्थ किया है, पर यदि इससे देवलोककी नदियोंका अर्थ लिया जाय तो अधिक उत्तम जान पड़ता है; क्योंकि गङ्गा-यमुनामें तो प्रभुने स्नान भी किया जो इस लोकमें हैं। और, यहाँ तो पार करनेमें शरीरका थोड़ा-सा भागभर भी जलमें जानेसे ही ये भूरिभाग्य माने जाते हैं, पूर्ण स्नानकी तो बात ही दूर रही। सराहते यह हैं कि पदनखके स्पर्शमात्रसे गङ्गाको हम इतना पवित्र मानते हैं और यहाँ तो शरीरका अधिक भाग उसमें रहा।

नोट—२ *'जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाईं'''* इति। *'जेहि'* अर्थात् कोई भी वृक्ष हो—पीपल, बरगद आदि पवित्र वृक्ष ही नहीं। कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और कामका देनेवाला है; वह भी मार्गके जैसे-तैसे वृक्षोंकी सराहना करता है। पुर, ग्राम, पुर-ग्रामनिवासी, सर और सरित इन सबकी प्रशंसा देवताओंके नगर, नगर-निवासी, सर और सरितद्वारा कही; इसीसे मार्गके वृक्षोंकी प्रशंसा भी देवलोकके वृक्षद्वारा कही।

नोट—३ *'मानत भूमि भूरि निज भागा'* अर्थात् त्रिपाद-विभूतिके विचरनेवाले प्रभु हमारे ऊपर पैरों-पैरों विचर रहे हैं। अथवा, इन्होंने सब ऐश्वर्यका त्याग किया, यह सब हमारे लिये किया और हमें अपने चरणोंसे दूर नहीं किया। (रा० प्र०)

नोट—४ वाल्मी० २। ४८ के '**आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च। येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि॥ शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः। आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः॥**' (९-१०)''''' इत्यादिसे। अवधवासिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंसे कह रही हैं—'उन्हीं नदियोंने पुण्य किया है, उन्हीं कमलवाले तालाबोंने पुण्य किया है, जिसके स्वच्छ जलमें श्रीरामजी वनको जाते हुए स्नान करेंगे। सुन्दर वृक्षोंवाले वन, जलवाली नदियाँ और सुन्दर शिखरवाले पर्वत अपने यहाँ आये हुए प्रिय अतिथि श्रीरामकी पूजा किये बिना न रहेंगे।' इत्यादि।

नोट—५ ☞ इन ८ अर्धालियोंसे यह बताया है कि जिस भी जड़ वा चेतन वस्तुसे भगवान्‌का सम्बन्ध होता है वह स्थान,व्यक्ति, जड़, और चेतन अत्यन्त भाग्यवान् हैं; कारण कि *'जड चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे। ते सब भए परम पद जोगू॥'* (२१७। १-२) और देवता तो स्वार्थी हैं। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ (क) इस प्रशंसा-प्रसंगका भाव यह है कि जहाँ श्रीरामजीकी प्राप्ति हो वही स्थान सराहनीय है, वही वर्णन करने और बखानने योग्य है। (ख) *'छाँह करहिं घन'*—क्योंकि ग्रीष्मकी तपन है, वैशाखका महीना है, घाम कड़ा होता है। मार्गको कोमल बनानेके लिये फूल बरसाते हैं। यथा—*'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा।'*

टिप्पणी—२—*'देखत गिरि बन'''* इति। अर्थात् वन और पर्वतोंको रामजी देखते जाते हैं और पक्षी, पशु रामजीको देखते हैं, यथा—*जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जे प्रभु हेरे॥'* देवता सिहाते हैं कि धन्य इनके भाग्य हैं कि ये सब नेत्रभर देखते हैं और हम योजनभरपर यज्ञका धुआँ लेते हैं पृथ्वीपर नहीं आते। हा! हम पृथ्वीके नर-नारी, वन, पर्वत, पक्षी, पशु न हुए!—(रा० प्र०)

वि० त्रि०—*'छाँह करहिं'''जाहिं'* इति। बादल ऊपरसे छाया कर रहे हैं, देवता पुष्पकी वृष्टि कर रहे हैं, पर रामजी उनकी ओर नहीं देख रहे हैं, वे तो *'गिरि बन बिहग मृग'* को देखते हुए प्रकृतिकी शोभाका निरीक्षण करते हुए चले जा रहे हैं; इसलिये देवता लोग गिरि, वन, विहंग, मृगको सिहा रहे हैं कि इस समय तो इनका भाग्य हमारे भाग्यसे कहीं अधिक हो गया।

सीता लषन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥ १॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥ २॥
राम लषन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफलु होंहि सुखारी॥ ३॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥ ४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी श्रीसीतालक्ष्मणजीसहित जब गाँवके पास जा निकलते हैं॥ १॥ तब उनका आगमन सुनकर बालक, बुड्ढे, स्त्री, पुरुष घर और घरके काम-काज भूलकर तुरत सब-के-सब चल देते हैं॥ २॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका रूप देखकर,नेत्रोंका फल पाकर वे सुखी होते हैं॥ ३॥ दोनों वीरोंको देखकर वे सब प्रेममें मग्न हो गये, डूब गये हैं, उनके नेत्रोंमें जल भर आया और शरीर रोमाञ्चित हो गया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सब बाल बृद्ध नर नारी'''''* ' इति। बालक (पाँच वर्षतकका बच्चा) को खेल ही प्यारा होता है, वह खेल छोड़कर चल देता है; बुड्ढे घर छोड़कर चल देते है, रह गये बीचके, युवावस्थावाले; वे घरका काम-काज भुलाकर चल दिये। [पण्डितजीने दूसरा भाव खर्रेमें यह भी दिया है कि—'बाल, वृद्ध और गृहकार्य सब 'बिसराकर' सब स्त्री-पुरुष चले। नर-नारी—'**नयति प्रापयति आत्मा सद्गतिं इति नरः।**' यह भाव सम्भवतः उत्तरकाण्डके *'बाल वृद्ध कहँ संग न लावहिं'* से निकाला गया है। बा० २२० (२) और २४० (६) भी देखिये।]

टिप्पणी—२ *'पाइ नयनफलु होहिं सुखारी।'''* ' इति। नेत्रोंका फल राम-दर्शन है, यथा—*'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥'* (७। ७४) सुखी होना कहकर फिर उनके सुखकी दशाका वर्णन करते हैं। (मिलान कीजिये पूर्वके *'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि नर धाई॥ होहिं सनाथ जनम फलु पाई॥'* (१०९। ७-८) से। वे ग्रामवासी दर्शन पाकर सनाथ होते थे और समझते थे कि हमने जन्म लेनेका फल पा लिया। और ये नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं। इस भेदका कारण यह है कि वे गङ्गा-यमुनाके बीचके, नैमिषक्षेत्रके निवासी होनेसे इन लोगोंसे अधिक सुकृती थे। प० प० प्र०)

टिप्पणी ३—*'सब भये मगन देखि दोउ बीरा'* इति। यहाँ मग्न होनेमें 'वीर' का दर्शन कहा। भाव कि वीर हैं, इन्होंने जबरदस्ती मनको आकर्षित कर लिया।—*'तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतेउ सीस दस'* इति (विनय० २०४) दशशीश रावणके मारनेवाले ही दर्शककी दसों इन्द्रियोंको छेदकर (उनके) मनको वशमें कर सकते हैं।

वि० त्रि०—*'सजल बिलोचन''''बीरा'* इति। राम, लक्ष्मण और जानकीजीके रूपके दर्शनसे ग्रामीणोंके नेत्र सुफल हो रहे हैं। सुन्दरता वही है जिसके देखनेसे सुख मिले। तीनों सरकारोंके दर्शनसे उन्हें अलौकिक सुख मिल रहा है पर राम-लक्ष्मणमें कुछ विशेषता है। और वह यह है कि इनके रूपमें धीरताकी छटा है। अतः इन दोनों वीरोंको देखकर तो वे सब मग्न हो गये, तन-मनकी सुधि भूल गयी।

श्रीबैजनाथजीका मत है कि बाल-वृद्ध सब तीनोंका अनुपम रूप देखकर सुखी हुए। स्त्रियाँ दूर ही रुक गयीं, पुरुष निकट चले आये। तब श्रीजानकीजीने स्त्रियोंकी ओर मुख कर लिया। जिससे पुरुष अब दोनों वीरोंको देखकर मग्न हो गये।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥ ५॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥ ६॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥ ७॥
एक नयन-मग छबि उर आनी। होंहि सिथिल तन मन बर बानी॥ ८॥
दो०—एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहि गँवाइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥ ११४॥
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥ १॥

अर्थ—उनकी दशा वर्णन नहीं की जाती (ऐसा मालूम होता है) मानो दरिद्रोंको चिन्तामणिकी ढेरी मिल गयी॥ ५॥ वे एक-एकको बुलाकर उपदेश करते हैं कि इसी छन (आकर) नेत्रोंका लाभ ले लो

(क्योंकि वे चले जा रहे हैं, फिर दर्शन न होगा, पछताना पड़ेगा)॥ ६॥ कोई श्रीरामजीको देखकर ऐसे अनुरागमें भर गये हैं कि उनको देखते हुए साथ लगे चले जा रहे हैं॥ ७॥ कोई नेत्र-मार्गसे उनकी छबिको हृदयमें बसाकर तन, मन और श्रेष्ठ वाणीसे शिथिल हो जाते हैं। (अर्थात् तन-मन-वचन सबके व्यवहार बंद हो गये। तन हिलता-डोलता नहीं, मन संकल्प-विकल्परहित हो गया और मुँहसे बोला नहीं जाता।) ॥ ८॥ कोई बरगदकी छाया देखकर कोमल तृण और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि छनमात्र यहाँ थकावट दूर कर लीजिये, फिर चाहे अभी चले जाइयेगा चाहे सबेरे॥ ११४॥ कोई कलशेमें जल भरकर लाते हैं और कोमल वाणीसे कहते हैं—हे नाथ! आचमन कर लीजिये (हाथ-मुँह धो लीजिये)॥ १॥

पु० रा० कु०—१ *'लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी'* इति। (क) सुरमणि चिन्तामणि, इन्द्रमणि है जो सब कामनाओंको पूर्ण करता है। यह इन्द्रके पास है और एक ही है। उस एकके पानेसे इन्द्रको आनन्द है जो देवताओंका राजा है तो भला जिसको इस मणिका ढेर-का-ढेर अकस्मात् बिना परिश्रम प्राप्त हो जाय उसके आनन्दका अनुमान कौन कर सकता है? अतएव कहा कि उनके प्रेमानन्ददशाका वर्णन नहीं हो सकता। (ख) यहाँ राम-लक्ष्मण-सीता—ये तीन हैं अतएव *'ढेरी'* कहा। अथवा, रामजीके जितने अङ्ग हैं सभी चिन्तामणि हैं, रत्नवत् हैं, इससे *'ढेरी'* कहा। (ग) दशा वर्णन नहीं हो सकती—***'को हम कहाँ बिसरि सब गए'***, ***'कहि न जाइ सो दसा भवानी।'''को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।'*** (३। १०। १०-११)—प्रेमकी दशा ऐसी ही है। वर्णन नहीं हो सकती, फिर भी विषयानन्दकी उत्प्रेक्षाद्वारा कुछ कहते हैं। [(घ) मिलान कीजिये—***'लालची कौड़ीके कूर पारस पड़े हैं पाले, जानत न को हैं, कहा कीबो सो बिसरिगे। बुधि न बिचार, न बिगार न सुधार सुधि, देह गेह नेह नाते मनसे बिसरिगे॥'*** (गी० २। ३२) बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रेमकी मिलित दशा है।]

नोट—१ *'रामहिं देखि एक अनुरागे।'''* इति। यहाँ चार प्रकारके मगवासियोंका वर्णन किया गया है। एक वे जो अनुरक्त होकर बराबर देखते साथ लगे चले जाते हैं, दूसरे वे जो प्रभुकी छबिको हृदयमें धारणकर मनसा-वाचा-कर्मणा शिथिल हो गये हैं, तीसरे वे हैं जो इन्हें देख तुरंत आगे दौड़कर वट-वृक्षकी शीतल छायाके नीचे बड़ी शीघ्रतासे घास-पत्ते एकत्र कर बिछाते हैं और प्रभुसे कुछ देर विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना करते हैं और चौथे वे हैं जो तुरत जाकर कलशेमें ताजा स्वच्छ मधुर जल भर लाकर प्रभुको अर्पण करते हैं। इनके अतिरिक्त वा इन्हींमेंसे एक वे हैं कि जो दूसरोंको बुलाकर दर्शन करनेका उपदेश देते हैं।

मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि यहाँ ग्रामवासियोंके साथ तीन प्रकरण—कर्म, ज्ञान और उपासना दिखाये हैं। प्रथमवाले ***'रामहिं देखि एक अनुरागे'*** कर्मकाण्डी हैं, दूसरे अर्थात् ***'एक नयन-मग छबि उर आनी'*** वाले ज्ञानी हैं और तीसरे-चौथे—***'एक देखि बट छाँह'''*** और ***'एक कलस भरि'''***—जो सेवा करते हैं वे उपासक हैं। कर्मकाण्डी और ज्ञानीके यहाँ प्रभु उपस्थित न हुए और उपासकोंके यहाँ ठहरे।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ चारों प्रकारके भक्त इन ग्रामवासियोंमें दिखाये हैं। (१) ***'एकन्ह एक बोलि सिख देहीं'*** कि तत्त्व ये ही हैं, शीघ्र दर्शन कर लो—यहाँ 'जिज्ञासु भक्त' दिखाये। (२) ***'रामहि देखि एक अनुरागे'*** ये आर्त भक्त हैं। (३) ***'एक नयन-मग छबि उर आनी'***, जो परम धन मानकर हृदयमें धर लेते हैं, वे अर्थार्थी भक्त हैं और (४) ***'एक देखि बट छाया'''***—वटछाया मानो रत्नमन्दिर है, वहाँ तृणपत्ररूपी आसन बिछाया। ये ज्ञानी भक्त हैं। ज्ञानी परिकरोंमें हैं, अतः इनके प्रकरणमें आसन हुआ। ये चारों भक्त गिनाकर तब पाँचवाँ प्रेमी भक्त कहा—(जैसे नाम-वन्दना-प्रकरण बालकाण्ड दोहा २२ में विस्तृतरूपसे लिखा गया है)। जो जल भर लाये—ये प्रेमी पञ्चम भक्त हैं।

बैजनाथजी कहते हैं कि ***'रामहिं देखि एक अनुरागे'''*** इत्यादिमें वशीकरण, आकर्षण आदि प्रयोगोंकी एवं परा, प्रेमा और नवधा भक्तियोंकी दशाएँ पृथक्-पृथक् दिखती हैं। जिनपर वशीकरण पड़ा वे पराभक्तिकी रीतिसे रघुनन्दनको देख अनुरक्त हो गये, देखते हुए संग लगे चले जा रहे हैं। दूसरे वे हैं जिनपर मोहनी

पड़ी वे प्रेमाभक्तिकी रीतिपर छबिको हृदयमें बसाकर प्रेमकी उमंगसे विह्वल हो गये, उनका मन रूपमें आसक्त है, शरीर शिथिल पड़ गया और वाणी रुक गयी। तीसरे वे हैं जिनके चित्तका आकर्षण हुआ है वे नवधा भक्तिकी रीति बरत रहे हैं—वटकी छाँहमें कुशपल्लवादि बिछा बैठनेकी प्रार्थना करते हैं—यह आसनोपचार हुआ। इन्हींमें वे हैं जो जल लाकर आचमन करनेकी विनय करते हैं—यह नवधा भक्तिका अर्घ्यपाद्याचमनोपचार हुआ।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि सरकारका आगमन सुनकर ग्रामके लोगोंका देखनेके लिये आना कहा, यथा—*'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥'* बाल-वृद्ध कहनेके बाद नर-नारी कहनेका भाव युवक-युवती है। इस भाँति चार प्रकारके लोगोंका आना कहा। रूप देखकर सबकी क्या दशा हुई इसका वर्णन करके अब पृथक् उनकी क्रिया कहते हैं। (१) बाल तो *'चितवत चले जाहिं सँग लागे।'* (२) वृद्ध *'होहिं सिथिल तन मन बर बानी।'* (३) युवक *'देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात। कहहिं गँवाइअ छिनुकु श्रम गवनब अबहिं कि प्रात॥'* (४) युवती *'कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥'*

गोस्वामीजीकी भावुकता

एक सुन्दर राजकुमारके छोटे भाई और स्त्रीको लेकर घरसे निकलने और वन-वन फिरनेसे अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्यका गोस्वामीजीने मानस, कवितावली और गीतावली तीनोंमें अत्यन्त सहृदयताके साथ वर्णन किया है। गीतावलीमें तो इस प्रसंगके सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियोंके हृदयको सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्यागको सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्गमें उन्होंने ग्राम-वधुओंका सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ श्रीरामजीके अनुपम सौंदर्यपर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजाकी निष्ठुरतापर पछताती हैं, कैकेयीकी कुचालपर भला-बुरा कहती हैं। सौन्दर्यके साक्षात्कारसे थोड़ी देरके लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं; वे अपनेको भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धिकी जननी है—

कविकी भावुकताका सबसे अधिक पता यह देखनेसे चलता है कि वह किसी आख्यानके अधिक मर्मस्पर्शी स्थलोंको पहचान सका है या नहीं। गोस्वामीजीने ऐसे प्रसंगोंका अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है, इससे निश्चय है कि उन्होंने ऐसे स्थलोंको अच्छी तरह पहिचाना है। उपर्युक्त प्रसंग भी कविकी भावुकताका दृष्टान्त है—(ना० प्र० सभाकी ग्रन्थावलीसे उद्धृत)।

गौड़जी—बाल, वृद्ध, युवा, नर-नारी सबमें एक स्थायीभाव 'रति' है। यहाँ पहलेसे ही यह समाचार फैल जाता है कि अवधके राजकुमार आ रहे हैं जिन्हें वनवास हुआ है। बड़े सुन्दर हैं, बड़े वीर हैं, *'अवसि देखिये देखन जोगू।'* रूप देखकर मोह जाते हैं। सुन्दर रूपमान् वीरोंमें यह रति स्थायी भाव उनके मनमें जाग्रत् होता है। फिर अनुगामी *'सजल बिलोचन पुलक सरीरा।'* आदि सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। रूपपर मोहित हो कुछ संग लग जाते हैं, रूपके दर्शन करके सभी हर्षित होते हैं, कोई-कोई मुग्ध हो मार्गमें शिथिल होकर जड़तासे बैठ जाते हैं, कोई सेवाद्वारा उन्हें कुछ देर रोका चाहते हैं। इस प्रकार प्रेम-शृङ्गारका श्रीरघुनाथजीके विषे उनके दर्शन करनेवालोंमें पूर्ण परिपाक होता है।

सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। रामु कृपालु सुसील बिसेषी॥ २॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं॥ ३॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ ४॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥ ५॥

अर्थ—उनके प्यारे वचन सुनकर, उनका अति प्रेम देखकर, बड़े ही दयालु और सुशील श्रीरामजी मनमें सीताजीको थकी हुई जानकर कोई घड़ीभर बरगदकी छाँहमें ठहर गये॥ २-३॥ स्त्री-पुरुष आनन्दसे

शोभा देख रहे हैं, उस उपमारहित रूपने उनके नेत्रों और मनको लुभा लिया। (अर्थात् उनका जी चाहता है कि इन्हें देखा ही करें, ये हमें सदा प्राप्त रहें)॥ ४॥ सब चारों ओर टकटकी लगाये श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको चकोरवत् देखते हुए शोभित हो रहे हैं॥ ५॥

नोट १— ***'रामु कृपालु सुसील बिसेषी'*** इति। (क) ***'बिसेषी'*** का भाव कि कृपालुता-सुशीलता औरोंमें भी है, पर इनमें सबसे अधिक है जैसी किसी औरमें नहीं। (पु० रा० कु०) (ख) पंजाबीजी एवं बैजनाथजी लिखते हैं कि ***'कृपालु'*** सीताजीके सम्बन्धसे कहा क्योंकि उनपर कृपा करनी है और 'सुशील' लोगोंका भाव रखनेके निमित्त कहा।

नोट २—***'जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक'''***' इति। सीताजी थक गयीं पर उन्होंने कहा नहीं। श्रीरामजी मनमें जान गये कि थक गयीं तब बैठ गये। श्रीसीताजी कहती नहीं, क्योंकि वे पूर्व कह चुकी हैं कि ***'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'*** (रा० प्र०) पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि 'जब श्रमित जानकर रामजी बैठे तब लोगोंपर रामजीकी कृपालुता, सुशीलता कैसे कही जाय?' और उत्तर देते हैं कि सीता जगज्जननी हैं, उनकी जीवोंपर विशेष कृपा है, इसीसे वे थकित हुईं। और राम पिता हैं। जब लड़का बोले-चाले तब पिता प्रीति करता है और माता गुण-दोष नहीं देखती। एक घड़ीके लगभग ठहरे। (श्रीसीताजीकी श्रमपर एक युक्ति कवितावलीमें देखिये। ***'जल को गए लषन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढ़े॥'*** (क० २। १२)

नोट ३—***'रूप अनूप नयन मनु लोभा। एकटक सोहहिं'''''***' इति। (क) रूप अनूप है इससे नेत्र और मन लुब्ध हो गये। एकटक अर्थात् पलक नहीं मारते। रामचन्द्रजीके मुखपर चन्द्रमाका आरोप किया गया। इसीसे सबको चकोरकी उपमा दी। चदि आह्लादने धातु है। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—१ ऐसा ही दृश्य अरण्यकाण्ड दोहा १२ में अगस्त्यजीके आश्रमपर है, यथा—***'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥'*** चकोर चन्द्रमाकी ओर टकटकी लगाये देखा करता है, वैसे ही ये श्रीरामजीके मुखचन्द्रको एकटक देख रहे हैं। पुनः, जैसे चन्द्रमा सभी चकोरोंके सम्मुख वैसे ही प्रभु सबके सम्मुख हैं। यहाँ रहस्य यह है कि ***'सोहहिं चहुँ ओरा'*** अर्थात् चारों ओर सब स्त्री-पुरुष बैठे हुए हैं तो कुछ लोगोंकी ओर पीठ अवश्य होगी; वे मुख कैसे देख सकते? पार्वतीजीका जो प्रश्न कैलास-प्रकरण बालकाण्डमें है कि—***'औरो रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'*** (१११। ३) वही रहस्य यहाँ वर्णन हुआ है कि सबको रामजी सम्मुख अर्थात् अपनी ओर मुँह किये देख पड़ रहे हैं। धनुषयज्ञशालामें भी ऐसा ही रहस्य है कि एक रामपर—***'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥'*** (१। २४२। ८) उत्तरकाण्डमें भरत-मिलाप-समय भी एक प्रभु—***'छन महँ मिले सबहि भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥'*** पुनः किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डमें भी सब बन्दर रामजीको प्रणाम करते हैं। प्रभु सबसे कुशल पूछ रहे हैं? यह गुप्त रहस्य ऐश्वर्यका द्योतक है।

२—यहाँ परम्परित रूपक अलङ्कार है।

तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥ ६॥
दामिनि बरन लषन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जी के॥ ७॥
मुनिपट कटिन्ह कसें तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा॥ ८॥
दो०—जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर लसत स्वेदकनजाल॥ ११५॥

शब्दार्थ—'**तरुन**'=नवीन, नया, युवावस्थाका। **तमाल**—यह दो प्रकारका होता है एक साधारण, दूसरा

श्याम। श्याम तमाल कम पाया जाता है। इसकी लकड़ी आबनूसकी-सी काली होती है। यह २०—२५ फुट ऊँचा और बहुत सुन्दर सदाबहार वृक्ष है जो अधिकतर पहाड़ोंपर होता है। **बिसाल** (विशाल)=चौड़े, लम्बे, बड़े। तूणीर=तरकश। **सरद परब** (शरत्पर्व)=आश्विनकी पूर्णिमा, शरदपूनो। **'स्वेदकनजाल'**=पसीनेके बूँदसमूह। **'लसत'**=शोभित है, दीप्तिमान् है।

अर्थ—(श्रीरामचन्द्रजीका) नवीन तमाल वृक्षके रंगका श्याम शरीर शोभा दे रहा है, जिसे देखते ही करोड़ों कामदेवके मन मोहित (मुग्ध) हो जाते हैं॥ ६॥ बिजलीके-से रङ्गके (गौरवर्ण) लक्ष्मणजी अत्यन्त भले लगते हैं, नखसे शिखा-पर्यन्त (पैरोंके नाखूनसे सिरकी चोटीतक) अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दर हैं और मनको भाते हैं॥ ७॥ मुनियोंके वस्त्र (कौपीन, वल्कल, चीर) पहिने और उसीसे तर्कश कमरोंमें कसे हुए हैं। कमलसमान हाथोंमें धनुष-बाण (दाहिनेमें बाण, बायेंमें धनुष) शोभित हो रहे हैं (अर्थात् सन्नद्ध हैं)॥ ८॥ उनके सुन्दर सिरोंपर सुन्दर जटाओंके मुकुट हैं अर्थात् सिरपर जटाएँ मुकुटाकार बाँधे हुए हैं। छाती, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं। शरदपूनो (पूर्णिमा) के चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखोंपर पसीनेकी बूँदोंका समूह शोभित हो रहा है॥ ११५॥

नोट १—दोनों राजकुमारोंका, पृथक्-पृथक् वर्ण होनेसे पहले उनका रूप दो-दो चरणोंमें पृथक्-पृथक् कहा और वेष एक-सा है, इससे आगे एक ही साथ दोनोंका वेष कहा है।

नोट २—तरुण तमालसे उपमा दी क्योंकि ये भी तरुण हैं, २७ वर्षके हैं। यहाँ वाचकलुप्तोपमा और चतुर्थ प्रतीप अलङ्कार है।

नोट ३—'विशाल' के यहाँ तीन अर्थ तीनों अङ्गोंके सम्बन्धसे हैं। छाती (वक्षःस्थल) चौड़ी और उन्नत वा ऊँची; बाहु लम्बे घुटने-पर्यन्त और नेत्र बड़े।

नोट ४—(क) मिलान कीजिये—*'आगे सोहै साँवरो कुँवर गोरो पाछे पाछे, आछे मुनिवेष धरे लाजत अनंग हैं। बान बिसिषासन, बसन बन ही के कटि कसे हैं बनाइ, नीके राजत निषंग हैं।'* (क० २। १५) (ख) *'सोहहिं कर कमलनि.......'* में *'परिणाम अलंकार'* है। (वीर)

'जटा मुकुट'.....'स्वेदकनजाल' इति। मिलान कीजिये—*'ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे धनु काँधे धरे कर सायक लै। बिकटी भ्रुकुटी बड़री अँखियाँ अनमोल कपोलन की छबि है। तुलसी असि मूरति आनि हिये जड़ डारि धौं प्रान निछावरि कै। श्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक मै।'* (क० २। १३) रेखाङ्कित अंश *'लसत स्वेदकनजाल'* का भाव है। दोहेमें वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥ १॥
राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥ २॥
थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से॥ ३॥

अर्थ—यह (श्रीरामलक्ष्मणजीकी) मनोहर जोड़ी वर्णन नहीं की जा सकती (क्योंकि इसकी) शोभा (कान्ति) बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी (अर्थात् क्षुद्र) है॥ १॥ सब लोग मन, चित्त और बुद्धि तीनोंको लगाये हुए श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीकी सुन्दरताको देख रहे हैं॥ २॥ प्रेमके प्यासे (मगवासी) स्त्री पुरुष (इनका सौंदर्य देख) इस प्रकार थकित हो गये (अर्थात् ठिठुककर रह गये, स्तब्ध हो गये) जिस प्रकार हरिण और हरिणी दीया देखकर ठिठककर रह जाते हैं। (मुग्ध हो जड़-सरीखे शिथिल हो जाते हैं)॥ ३॥

नोट १—(क) *'बरनि न जाइ'* वरणी नहीं जा सकती, इसका कारण *'मनोहर'* शब्दसे प्रकट कर दिया। अर्थात् इसे देखते ही मन हरण हो जाता है; जब मन ही हर लिया गया तो वर्णन कौन करे? दूसरा कारण यह देते हैं कि शोभा बहुत है, अपार है कि जिससे करोड़ों कामदेव मोहित हो जाते हैं और बुद्धि अल्प है, क्षुद्र है। थोड़ी जगहमें बड़ी वस्तु कैसे समा सकती है।'—*'सरसी सीपि कि सिंधु समाई।'* (२५७। ४) ऐसा ही श्रीसीताजीके सौंदर्यके विषयमें कहा है, यथा—*'सिय सुंदरता बरनि न जाई।*

लघुमति बहुत मनोहरताई॥' (१। ३२२) (ख) *'मनोहर',* यथा—*'तुलसी बिलोके चित लाइ लेत संग हैं।'* (क० २। १५) *'बलकल बसन धनुबान पानि तून कटि रूपके निधान घन दामिनी बरन हैं।''''''औरे सो बसंत औरै रति औरै रतिपति, मूरति बिलोके तन मनके हरन हैं॥'* (क० २। १७)*'मनहुँ मनोहरता तन छाए।'* (१। २४१। १) देखिये।

नोट-२—*'राम लखन सिय सुंदरताई।'''''* इति। दोनों भाइयोंकी जोड़ीकी मनोहरता कही, श्रीसीताजीकी न कही थी; अतः अब इनका भी नाम देकर जनाया कि उस मनोहर जोड़ीको ही नहीं देख रहे हैं वरन् महारानी सीताजीको भी सब देख रहे हैं। इनका भी सौन्दर्य अनुपम है। ये जगज्जननी हैं; इससे उनकी शोभाका वर्णन नहीं किया। *'राम लखन सिय सुंदरताई'* एक-ही चरणमें तीनोंको साथ कहकर सबका मनोहर होना जना दिया है। पुनः, दूसरा भाव बैजनाथजीके मतानुसार यह है कि सब पुरुष श्रीरामलक्ष्मणजीकी छबि देख रहे हैं और स्त्रियाँ तीनोंकी सुन्दरताको देख रही हैं। पुरुष सब रामलक्ष्मणजीके पास हैं और स्त्रियाँ, विशेषतः युवावस्थावाली, सीताजीके पास बैठी हैं, पर दृष्टि उधर भी है। अतएव रामलक्ष्मणजीकी छबिका वर्णन पृथक् करके फिर तीनोंको एकमें कहा।

नोट—३—*'चित मन मति लाई'* इति। (क) चित्त चिन्तनात्मिका बुद्धि है। अनुसन्धान करना, चिन्तन करना इसका काम है। मन संकल्प-विकल्प करता है और बुद्धि संकल्प-विकल्पपर विचारकर निश्चय करती है। ये तीनों अपना-अपना कर्म छोड़कर सौन्दर्यको एकटक देख रहे हैं। जबतक ये तीनों अपने व्यवहारमें लगे रहते हैं तबतक एकाग्रता नहीं आती; इसीसे अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीसे प्रभुने कहा है—*'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥'* (१५। १) अर्थात् एकाग्र होकर सुनो वैसे ही ये एकाग्र होकर दर्शन कर रहे हैं?। (ख) यहाँ *'चित्त मन मति'* तीनको कहा, चौथा अहंकार है उसे न कहा; यह क्यों? क्योंकि अहंकार वस्तुकी प्राप्ति होनेपर होता है और इन्हें तो यहाँ ठहरना है नहीं। (पं० रा० कु०) अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। एकाग्र होनेमें मन-बुद्धि-चित्त तीनोंको ध्येयमें ऐसा लगा देते हैं कि अहंकारकी विस्मृति हो जाती है, अहंकारके लगे रहनेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। आदरके साथ दर्शन तो तभी बनता है जब अहंकारका साथ न हो, यथा—*'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'* (वि० त्रि०)

नोट ४—*'थके नारि नर प्रेम पिआसे।'''''* इति। (क) देखते-देखते वे सब जडवत् शिथिल हो गये, स्तब्ध रह गये। यहाँ ग्रामनर मृग और ग्रामनारी मृगी हैं। श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तीनों दीपक-सदृश हैं। हरिण दीपकको देखकर मुग्ध हो जाता है, वह सौन्दर्यका उपासक जीव है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जब हरिण-हरिणी आते हैं तब उनको फाँसनेवाले लूक जला देते हैं, जिसे देखकर वे जहाँ-के-तहाँ ठिठककर खड़े रह जाते हैं। वैसे ही इन वनवासियोंने कभी ऐसा सौन्दर्य देखा ही न था, जब देखा तो बेहोश हो गये, ठिठुक रहे। (पु० रा० कु०) यह भी प्रसिद्ध है कि व्याधा लोग दीपक जलाकर गाते हैं, हिरन दीपक देखकर खड़े रह जाते हैं, वैसे ही ये सब इनको देखकर एकटक रह गये, अपनपौ भूल गये। (रा० प्र०) पुनः *'थके'* का दूसरा अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि जिस अङ्गपर जाती है, आगे नहीं चल पाती; सर्वाङ्गोंके रूपके पार होना असम्भव है, अतः तृप्ति नहीं होती। इसीसे कहा कि अङ्ग शिथिल हो गये पर प्रेमकी प्यास नहीं बुझती। (ख)—यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

नोट ५—मिलान कीजिये—*'आली काहू तौ बूझौ न पथिक कहाँ धौं सिधैं हैं। कहाँ तें आए हैं, को हैं, कहा नाम श्याम गोरे काज कै कुसल फिरि एहि मग ऐहैं॥ उठति बैंस मसि भींजत सलोने सुठि सोभा देखवैया बिनु बित्त बिकैहैं। हिय हेरि हर लेत लोनी ललना समेत लोयननि लाहु देत जहाँ-जहाँ जैहैं॥ राम लषन सिय पथि की कथा पृथुल, प्रेम बिथकीं कहति सुमुखि सबै हैं। तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरि भाग जेऊ सुनिकै सुचित तेहि समै समैहैं॥'* (गीता० २। ३७। १—३), *'रूप-दीपिका निहारि मृगमृगी-नरनारि'*

'बिथके बिलोचन निमेखैं बिसराइकैं॥' (गी० १। ८२) *'तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं।'* (क० २। १४)

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥ ४॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥ ५॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं॥ ६॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सुभाएँ**'=स्वाभाविक, सहज ही, वचन-रचना युक्त नहीं। '**अबिनय**'=गँवारी ढङ्गकी टूटी-फूटी विनय, विधिपूर्वकवाली नहीं।

अर्थ—गाँवकी स्त्रियाँ श्रीसीताजीके पास जाती हैं (परंतु) अत्यन्त स्नेहके कारण पूछते हुए सकुचाती हैं॥ ४॥ बारम्बार सब उनके पाँव लगती हैं अर्थात् चरण छूती हैं और सहज ही सीधे-सादे कोमल वचन कहती हैं॥ ५॥ हे राजकुमारी! हम कुछ विनती करना चाहती हैं, स्त्रीस्वभावसे कुछ पूछते हुए डरती हैं (अर्थात् स्त्रीस्वभाव है कि बिना पूछे जी नहीं मानता, इससे पूछती हैं; पर आप राजकुमारी हैं, हम गँवारी हैं, आपकी हम प्रजा, आप हमारी रानी हैं, इससे डर लगता है)॥ ६॥ हे स्वामिनि! हमारे अविनयको क्षमा कीजिये, हमको गँवारिन देहातिन जानकर बुरा न मानियेगा। अर्थात् हम नहीं जानती हैं कि कैसे विनती करना और पूछना चाहिये, जानती होतीं तब यदि विनय करते न बनती तो बुरा माननेकी बात थी॥ ७॥

नोट १—*'अति सनेह'* और *'तिय सुभाय कछु'* दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर लगेंगे। पूछनेका कारण भी *'अति सनेह'* है। इसी तरह तिय-स्वभावसे कुछ विनय करना चाहती हैं। पूछते डरना भी स्त्रीस्वभाव है। सकुचका कारण कि चक्रवर्ती महाराजकी पुत्र-वधू हैं, इनसे कैसे बात करें, हमसे बात करते बने या न बने, बात पूछने योग्य है वा नहीं।

नोट २—*'बार बार सब लागहिं पाएँ।'* हृदयमें स्नेह तो बहुत है पर बिना मन पाये कैसे पूछें, प्रतिकूलताका भय है। अतएव चतुरतासे बारम्बार पैरों पड़ती हैं, यह सब मन मिलानेके लिये, अपने अनुकूल करनेके लिये। (वै०)

राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥ ८॥
दो०—स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुखमा अयन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नयन॥ ११६॥
कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आँहि तुम्हारे॥ १॥

शब्दार्थ—**सलोने**=सुन्दर। **दुति**=कांति, चमकदमक,द्युति। **मरकत**=पन्ना, नीलम, नीलमणि—यह गहरे हरे रंगका होता है। प्रायः इसमें और नीलेमें कवियोंने भेद नहीं माना है। **सोने**=स्वर्ण, सोना। **सर्बरी** (शर्वरी)=रात्रि, रात। **सर्बरीनाथ**=रातका स्वामी, चन्द्रमा। **सरद**=कुआर, कार्तिक।

अर्थ—हे सुमुखि! कहो—ये दोनों सहज ही सुन्दर राजकुमार जिनसे मरकतमणि और स्वर्णने कान्ति पायी है,(अर्थात् इनकी कान्ति नीलमणि और स्वर्णसे कहीं बढ़कर है। इन्होंने अपनी कान्तिसे कणमात्र उनको दे दिया है, जिससे उनमें चमक-दमक आ गयी है)॥ ८॥ श्याम गौर (साँवले और गोरे), श्रेष्ठ किशोर अवस्थावाले, सुन्दर और परमशोभाके धाम, शरदपूनोंके चन्द्रमाके समान मुख और शरद्-ऋतुके कमलके समान नेत्रवाले॥ ११६॥ और करोड़ों कामदेवोंको (अपनी छबिसे) लज्जित करनेवाले तुम्हारे कौन हैं?॥ १॥

नोट—१(क) *'सहज सलोने'*—*'सलोने'* का अर्थ वस्तुतः लावण्ययुक्त है। लावण्य वह सौन्दर्य है जो प्रायः किशोरावस्थामें होता है। इसे फारसीमें मलाहत कहते हैं। बालकाण्डमें भी कहा है—*'साँवर*

कुँअर सखी सुठि लोना।' (२३३। ८) दोनों भाई लावण्ययुक्त हैं पर साँवले अत्यन्त सलोने हैं। (ख) *'इन्ह तें लहि द्युति'.....'* इति। कवितावलीमें श्रीसीताजीके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है—*'पथिक गोरे साँवरे सुठि लोने। संग सुतिय जाके तनु ते लही है द्युति सोन सरोरुह सोने॥'* (२। २३) *'संग लिये बिधुबैनी बधू रतिको जेहि रंचक रूप दियो है।'* (क० २। २९) मिलान कीजिये—*'गोरेको बरन देखें सोनो न सलोनो लागै, साँवरे बिलोकें गर्ब घटत घटनिके।'* (क० २। १६)—इन उद्धरणोंमें इस अर्धालीके भाव ही हैं। (ग) शरीर उपमेय, मरकतमणि और सोना उपमान हैं, परंतु यहाँ उपमानको उपमेय और उपमेयको उपमान करना 'प्रथम प्रतीप अलंकार' है।

बैजनाथजी—*'कोटि मनोज लजावनिहारे'* कहकर अपनी आसक्ति उनमें दिखायी और गुप्तरीतिसे जनाती हैं कि ऐसे वह कामको भी लजानेवाले आपके हाथमें हैं, हमारी ओर तो भूलसे भी नहीं देखते। इस हेतु हम आपके द्वारा इनकी प्राप्ति चाहती हैं। इसीसे आगे सीताजीका सकुचकर मुसुकाना कहा है। चतुराईपर हँसीं कि हमारे द्वारा प्राप्ति चाहती हैं और सङ्कोच यह कि प्रभु एक पत्नीव्रत हैं, इससे हमसे याचना करके भी ये विमुख जाती हैं तो हमारी उदारता गयी। इन्हीं दोनों सङ्कोचोंमें पड़ उनकी ओर देख फिर सिर नीचे करके जनाया कि हम इस दानकी समर्थ नहीं, पर कदापि राजकुमार स्वयं तुम्हें ग्रहण करें तो हम प्रसन्न हैं। इस आन्तरिक बातके उत्तरमें सङ्कोच दिखाकर प्रत्यक्ष बातका उत्तर देनेके लिये बोली।'—(यह भाव शृङ्गार रसका है। रसिकोंके लिये है)।

नोट २—कवित्तरामायणमें इसके पूर्ण-गर्भित भाव देखिये—

'सीस जटा उर बाहु बिसाल बिलोचन लाल तिरीछी सी भौहैं।
तून सरासन बान धरें तुलसी बन मारगमें सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मन मोहैं।
पूँछति ग्रामबधू सिय सों कहौ साँवरो सो सखि रावरो को हैं॥

पूछनेका गुप्त आशय कैसा अनूठा है? यही तो श्रीसीताजीके मुसुकानेका मुख्य कारण हुआ। विशेष लाला सीतारामजीका लेख ११७ (५—८) में देखिये।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥ २॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनीं। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनीं॥ ३॥
सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥ ४॥

शब्दार्थ—**बर बरनीं**=श्रेष्ठ वर्णवाली।=श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली। यह शब्द ग्रन्थमें एक ही ठौर और आया है—*'अगम सबहिं बरनत बर बरनी। जिमि जल हीन मीन गमु धरनी।'* (२८९। १) भरतसूत्रमें वरवरणीके लक्षण ये कहे हैं, **'शीते सुखोष्णा सर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला। भर्तुर्भृत्या तु या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी॥'**

अर्थ—(उनकी) प्रेमसे भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं और मनमें मुसकुरायीं॥ २॥ उनको देखकर पृथ्वीको (की ओर) देखती हैं। उत्तम वर्णवाली श्रीसीताजी दोनोंके सङ्कोचसे सकुच रही हैं॥ ३॥ हिरनके बच्चेके-से नेत्रवाली और कोकिलकी-सी वाणीवाली सीताजी सकुचाकर प्रेमसहित मधुर वचन बोलीं॥ ४॥

नोट १—*'सनेहमय'*—राजकुमारि, स्वामिनि! हम गँवारी हैं विनय करना नहीं जानती, इन सब वचनोंसे प्रेम टपक रहा है। प्रेमयुक्त होनेसे मंजुल भी हैं। (पु० रा० कु०) अथवा 'रामस्वरूपकी द्योतक होनेसे सुन्दर कहा।' (पंजाबीजी)

नोट २—*'सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी'* इति। यहाँ सङ्कोच इससे है कि पतिकी बात पूछती हैं और मुसकुरायीं कि हैं ग्रामवासिनी पर हैं बड़ी सयानी, बात बड़ी चतुराईसे पूछी है (पंजाबीजी)। यथा—*'सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।'* (क० २। २२)।

'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच'—

स्वामीकी वार्ता नगरकी स्त्रियाँ करनेमें सकुचती हैं। ग्रामवासिनियोंमें यह सङ्कोच इस दर्जेका नहीं होता। महारानीजी सोचती हैं कि इनका मन रखनेके लिये हमको भी वैसा ही होना पड़ता है, यह सङ्कोच हुआ। पर उनका मन भङ्ग करना न सह सकीं, इससे इशारेसे बताती हैं। (पंजाबीजी) पहले सखियोंकी ओर देखा फिर लज्जावश सिर नीचे कर पृथ्वीकी ओर देखा, *'दुहुँ सँकोच'* जो कहा वह इन्हीं दोको सूचित किया। सखियोंका प्रेम देखकर न बतायें कि कौन पति हैं तो नहीं बनता और पृथ्वी माता हैं, ये भूमिजा, धरणिजा अर्थात् पृथ्वीसे प्रकट हुई हैं तो माताके सामने पतिकी चर्चा कैसे करें, लज्जाका पालन भी हो और इनका मनोभङ्ग भी न हो! *'धरनी'* शब्दमें लक्षणामूलक गूढ व्यङ्ग है।

प्राय: *'दुहुँ सँकोच'* का भाव यही कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ महानुभावोंने लिखा है कि—*'तिन्हहिं बिलोकि'* अर्थात् जिनको पूछा है उनकी ओर देखकर पृथ्वीको देखने लगीं। स्त्रियोंका स्वभाव है कि लज्जावाली बात सुनकर पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं। *'दुहुँ सँकोच'* एक तो पतिके समीप लज्जासे बतानेमें सङ्कोच, दूसरे न बतानेमें प्रेमके कारण सङ्कोच। (शिला, रा० प्र०) ११७ (१) में बैजनाथजीका दिया हुआ भाव देखिये।

प्रोफेसर पं० रामचन्द्रशुक्लजी—पवित्र दाम्पत्य-रतिकी कैसी मनोहर व्यञ्जना सीताद्वारा इस समय करायी है। जब ग्राम-वनिताओंने मार्गमें रामको दिखाकर उनसे पूछा कि 'ये तुम्हारे कौन हैं?' *'कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥'* से *'निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि'* तक।

☞ कुलवधूकी इस अल्पमें व्यञ्जनामें जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलापमें कहाँ?

नोट ३—*'सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी।'* इति। सङ्कोच और प्रेमके सम्बन्धसे मृगनयनीके नेत्रकी उपमा दी। *'जहँ बिलोकि मृगसावक नयनी॥'* (१। २३२। २) देखिये। और, मधुर वचनके सम्बन्धसे पिकबयनी विशेषण दिया। बालमृगके नेत्र बालमृगीके नेत्रोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और चञ्चल होते हैं, अत: 'बालमृग' की उपमा दी। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि इस उपमासे जनाते हैं कि सीताजी श्रीरामजीकी ओर देखकर पृथ्वीकी तरफ देखती हैं, फिर ग्रामवासिनियोंकी ओर बार-बार देखती हैं। विचार कर रही हैं कि क्या करें।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥५॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥७॥
भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥८॥

शब्दार्थ—**राय रासि**=राज्यकी राशि, बहुत-से राज्य, राजाका कोश,धनकी राशि।

अर्थ—जिनका सहज स्वभाव और सुन्दर गौर शरीर है, उनका लक्ष्मण नाम है। वे मेरे छोटे देवर हैं (वा, जिनका लक्ष्मण नाम है और जो छोटे हैं वे मेरे देवर हैं)॥ ५॥ फिर अपना मुखचन्द्र आँचल-से ढककर (छिपाकर, आँचलकी ओट करके जैसी स्त्रियोंमें रीति है) प्रिय प्रीतमकी ओर चितवनको करके (अर्थात् देखकर), भौंहें टेढ़ी करके॥ ६॥ सुन्दर खञ्जन पक्षीके-से सुन्दर नेत्रोंको तिरछे करके श्रीसीताजीने इशारेसे (अर्थात् कटाक्ष करके) उन स्त्रियोंसे रामजीको अपना पति बताया॥ ७॥ सब ग्रामवासिनी स्त्रियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं मानो कङ्गालोंने राज्यकी राशि ही लूट ली हो॥ ८॥

पु० रा० कु०—*'सहज सुभाय सुभग·····'* इति। *सहज*=स्वभाव। *सुभाय*=स्वाभाविक। अर्थात् स्वभाव स्वाभाविक ही सुभग (सुन्दर) है। स्वभाव सहज ही सुन्दर है, कुछ बनावटसे नहीं। अथवा, स्वभाव सहज है और सुन्दर तन गौर है, नाम लक्ष्मण है, सो मेरे देवर हैं। *'सहज स्वभाव'* से यह भी जनाया कि कामनारहित हैं, वनगमनके समय अपनी स्त्रीकी ओर भी न देखा तब परस्त्रीपर दृष्टि कब करने लगे। (वै०)

नोट—१ *'लघु देवर'* इति। पहले अर्थमें *'लघु'* देवरका विशेषण माना गया, इस विचारसे कि देवर शब्दका अर्थ है—पतिका भाई। उसमें छोटे-बड़ेका विचार नहीं, यथा—**'श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः स्वामिनो देवदेवरा इति।'** (अमरकोश) यहाँ 'लघु देवर' में यह अभिप्राय है कि इनसे बड़े भी देवर हैं। और यदि प्रचलित अर्थ लें कि *'देवर*=पतिका छोटा भाई' तो *'लघु देवर'* का भाव यह होगा कि ये भी देवर हैं और इनसे बड़े भी हैं जो घरपर हैं। इसमें यह शङ्का की जाती है कि ये तो मँझले हैं, छोटे तो शत्रुघ्नजी हैं, अतएव दूसरा अर्थ पंजाबीजीने यह दिया है—'उनका लक्ष्मण नाम है, रघुनाथजीसे छोटे हैं और मेरे देवर हैं।'

नोट—२ *'बहुरि''''सयननि'*—(क) मुखसे कुछ न कहकर इशारेसे ही पतिका परिचय दिया तो भी वे इशारा समझ गयीं और प्रसन्न हुईं—यहाँ 'युक्ति' अलंकार है। (ख) यहाँ श्रीजानकीजीने चार प्रकारके सैनसे अपने मनका भाव प्रकट किया कि रामजी हमारे पति हैं—प्रथम मुसुकान, द्वितीय लज्जावश मुख ढाँपना, तृतीय भौंहसे सैन करना और चतुर्थ नैनसे सैन करना। (मा० म०) (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभुकी ओर देखकर भौंह टेढ़ी करके बताया कि ये जो श्याम-तन हैं हमारे पति हैं। भौंहें बाँकी करके जनाया कि इनको किंचित् स्त्रीकी चाह है, घूँघटसे जनाया कि लोकभरसे मन फेरकर हम इनकी हो रही हैं, इससे इन्हें भी हमारी ही चाह है। नेत्रोंकी तिरछी चितवनसे जनाया कि इसी कटाक्षके अनुकूल हैं, इसीसे और स्त्रीकी ओर नहीं हेरते।' (घ) स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि—*'सुभग तन गोरे'* कौन हैं यह उनके नामके साथ *'लघु देवर मोरे'* कहकर प्रथम बता दिया। श्याम तनवाले कौन हैं यह स्त्रियोंके स्वभावानुकूल युक्तिसे कह दिया। ☞ यह भारतीय पतिव्रताशिरोमणि स्त्रीका चरित्र-चित्रण अत्युच्च काव्यकलासे सहज मनोहर किया गया है। उसपर विवरण टीका-टिप्पणी लिखनेसे इस निसर्ग रमणीय मनोहर चित्रकी मनोहरता चली जायगी। यह तो केवल अनुभव करके आनन्द लूटने योग्य है।'

वि० त्रि०—मुखको अंचलसे ढकनेका प्रयोजन यह कि जिसमें किसी पुरुषकी दृष्टि न पड़े, साध्वी स्त्रीकी तिरछी भौंहें; और तिरछी दृष्टिका पात्र एकमात्र उसका पति ही होता है। अतः *'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयनन्हि'* इस मुद्रासे भगवतीने रामजीको अपना पति बतला दिया और यह इशारा ऐसा ठीक उतरा कि सब ग्राम-बधूटियाँ इसे समझ गयीं। इसके पहिले *'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥'* कहनेसे यह भाव और भी परिपुष्ट हो गया।

नोट—३ *'रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।'* (क) 'रायराशि' के स्थानपर रामजी हैं। अथवा, राम-लक्ष्मण-सीता तीनोंका अब लज्जारहित होकर दर्शन करने लगीं, इससे राशि कहा और राजकुमार हैं ही। अतः 'रायराशि' लूटनेकी उत्प्रेक्षा की। पाण्डेजी कहते हैं कि लूटना कहा, क्योंकि जैसे लूटनेवाले निधिपर तड़पड़ गिरते हैं वैसे ही सैनके बिजली-समान रूपको देखने-हेतु विलम्बका सावकाश न सह सकीं, इन सबोंका मन इस शोभाको लूटने लगा। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'रंकोंने धनराशि लूटी अर्थात् वे रूपकी माधुरी निर्वासिक देखने लगीं। भाव कि अभीतक सकामना होनेसे रंक थीं, अब पावन मनसे रूपधनराशि नेत्रोंसे लूटने लगीं; यह प्रयोजनवती लक्षणा है।' (वै०) यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा है'।

नोट—४ इस छटाको कवितावलीके २२वें कवित्तसे मिलान कीजिये—*'सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली। तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हें समुझाइ कछु मुसुकाइ चली॥ तुलसी तेहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली। अनुरागतडागमें भानु उदै बिकसी मनो मंजुल कंजकली॥'* हनुमन्नाटकमें भी इसी प्रसंगका एक श्लोक यह है—'**पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छमाना कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति। स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता॥**' (३। १६) अर्थात् हे आर्ये! नील कमलके सदृश वर्णवाले तुम्हारे ये कौन हैं ? इस प्रकार मार्गमें पथिकोंकी स्त्रियोंसे पूँछी हुई हँसनेसे प्रफुल्ल गण्डस्थलवाले और लज्जासे चंचल नेत्रयुक्त मुखको नीचेकी ओर करती हुई श्रीजानकीजीने मानो स्पष्ट ही श्रीरामजीको अपना पति कह दिया। अर्थात् उनका प्रश्न सुनकर लज्जासे मुख नीचे करके जब कुछ उत्तर न दिया तो स्पष्ट ही विदित हो गया कि ये इनके पति हैं।

ग्रामवासियोंका प्रेम-प्रसंग

लाला सीताराम—श्रीरघुनाथजीने सुमन्त्रजीको शृङ्गवेरपुरमें बिदा किया। गङ्गापार करके पैदल प्रयागराज आये। राहमें कोई न मिला। इसका कारण वाल्मीकिने लिखा है कि इस प्रान्तमें घना जंगल था। प्रयागराजके वासी उनके दर्शनोंको आये; उनका आना-जाना चार ही चौपाइयोंमें निपट गया। इसके पीछे यमुना उतरे। यहीं यमुनापुरवासियोंका प्रेम उबल पड़ा। पहिले तो एक तापस मिला। यह तापस गोस्वामीजी आप ही हैं। पीछे स्त्रियाँ मिलीं जिनका सीताजीसे पूछना और उनका उत्तर श्रृंगाररसकी साहित्यदेवीका चूड़ामणि कहिये तो भी अत्युक्ति न होगी। पर इसमें, श्रृंगाररस ही नहीं, नीति और इतिहास भी अन्तर्गत है। हम तीनों भावोंका अर्थ अलग-अलग लिखते हैं।

शृङ्गार—इस भावको समझनेके लिये पहिले यात्राके स्वरूपका ध्यान कीजिये। आगे श्रीरघुनाथजी चले जाते हैं, बीचमें सीताजी हैं और उनके पीछे कुछ दाहिनी ओर दबे हुए (दाहिने लायें) लक्ष्मणजी चलते हैं। रघुनाथजी पहिले सीताजीसे कह चुके हैं।—*'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना॥'* इससे मुड़-मुड़कर सीताजीको देखते जाते हैं। इसपर गाँवकी स्त्रियाँ चकित होती हैं और कहती हैं कि—*'चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।'*

रघुनाथजीका स्वरूप भी उनकी आँखोंमें गड़ गया। यह वही रूप है जिसने जनकपुरमें '……*मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी'* इन स्त्रियोंके हृदयपर भी प्रभाव है और प्रभाव इनके इस वाक्यसे प्रकट है।—*'कोटि मनोज लजावनिहारे।'*

सुन्दर रूप देखनेमात्रसे तृप्ति नहीं होती। देखनेवालेकी सदा यह अभिलाषा रहती है कि सुन्दर पुरुष वा स्त्री हमारी ओर देखे और जो कहीं मुसका दे तो परमार्थ ही सिद्ध हो जाय।—*'नखसिखरूप भरे खरे तउ माँगत मुस्क्यान। तजत न लोचन लालची यह ललचौंहीं बान'* पर एक पत्नीव्रतधारी मर्यादा-पुरुषोत्तम उनकी ओर नहीं देखते, मुसुकाना तो दूर रहा। यह स्त्रियाँ भी अपने पतिके साथ यात्रा करती हैं। पर ऐसा कभी नहीं देखा, इसीसे पूछती हैं—*'सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।'*

तुम्हारा इनका कैसा सम्बन्ध है? तुम्हारे पति हैं तो तुमने इनको कैसे बस कर रखा है? इसका उत्तर श्रीजी मुखसे नहीं देतीं, आँखोंसे देती हैं और बताती हैं कि हमने इसी कटाक्षसे इनको बस कर रखा है। स्त्रियाँ अपने जीमें समझीं कि पति-बसीकरनका हमको महामन्त्र मिल गया—*'भईं मुदित सुनि ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।'* यद्यपि—*'अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरै कछू जा बस होत सुजान॥'* मुखसे न कहकर आँखोंसे कहनेका कारण भी बिहारीने लिखा है—*'झूठे जानि न संग्रहे जनु मुख निकसे बैन। याही ते मानो किये बातनि को बिधि नैन॥'*

नीति—शिक्षा—प्रलोभनकी सामग्री सामने आनेपर मनुष्यको उचित है कि पहले विचार करे कि हमारे पास भी ऐसी सामग्री उपस्थित है और जिसके पास उससे बढ़कर धन है उसको दूसरेके धनका लोभ करना महा अनुचित है। श्रीरघुनाथजी यह दिखलाते हैं कि हम इसी मुखारविन्दके मकरन्दसे तृप्त हैं।

इतिहास—१०९ दोहेसे १२३ दोहेतक यमुना-तटसे वाल्मीकिका आश्रम पाँच कोससे भी कम है। विचार करनेकी बात है कि इसी प्रान्तके वासियोंमें इतने प्रेमका प्रादुर्भाव क्यों हुआ? हमने यह प्रान्त देखा है, आबादी घनी नहीं है। बीच-बीचमें वन है। वाल्मीकीयरामायण, अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण किसीमें यह प्रसंग नहीं है। अब भी क्या इस बातके कहनेकी आवश्यकता है कि गोस्वामीजीने यह सौभाग्य अपनी जन्मभूमिको दिया। उदाहरण इसका मेघदूतमें है। कालिदासने यह कहीं नहीं लिखा कि उज्जैनसे उसको कोई सम्बन्ध था पर मेघको रास्तेसे भटकाकर उज्जैन ले जाता है—**'वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां। सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः॥'**……(लाला सीताराम डि॰ कलेक्टर पेंशनर, प्रयाग।)*

* हनुमन्नाटक अङ्क ३ में दो श्लोक ऐसे ही प्रसङ्गके हैं और इसी समयके हैं। (मा॰ सं॰) मानसकल्पकी कथा

दो०—अति सप्रेम सिय पाय परि बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहिसीस॥ ११७॥
पारबती सम पति प्रिय होहू। देबि न हम पर छाड़ब छोहू॥ १॥
पुनि पुनि बिनय करिअ कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी॥ २॥
दरसनु देब जानि निज दासी। लखीं सीय सब प्रेम पियासी॥ ३॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥ ४॥

अर्थ—बड़े ही प्रेमसे श्रीसीताजीके पैरों पड़कर बहुत प्रकारसे आशीर्वाद देती हैं कि—तुम सदा सौभाग्यवती रहो अर्थात् तुम्हारा सौभाग्य अटल हो, जबतक कि पृथ्वी शेषजीके सिरपर है॥ ११७॥ पार्वतीके समान पतिकी प्यारी हो। हे देवि! हमपर कृपा और स्नेह न छोड़ना अर्थात् कृपा बराबर बनाये रखना॥ १॥ हम बारंबार हाथ जोड़कर विनती करती हैं कि जो आप इसी रास्ते फिर लौटें॥ २॥ तो हमें अपनी दासी जानकर दर्शन दीजियेगा। श्रीसीताजीने देखा कि ये सब प्रेमकी प्यासी हैं अर्थात् इन्हें केवल प्रेमकी चाह है॥ ३॥ अतः मीठे कोमल वचन कहकर उनका परितोष किया, संतुष्ट कर दिया। वे ऐसी प्रफुल्लित और संतुष्ट हुई मालूम होती हैं मानो कुमुदिनीको चाँदनीने खिलाकर पुष्ट कर दिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सदा सोहागिनि होहु…'* इति। (क)—गिनतीकी मिति है इसीसे और कोई संख्या—*'शत, कोटि, बरस करोरी'* इत्यादि न देकर यह कहा कि तबतक सुहाग रहे जबतक शेषके सिरपर पृथ्वी है।* (दो प्रकारसे अचल सौभाग्यका आशीर्वाद तो यह हुआ अब तीसरी प्रकारका कहते हैं) सौभाग्यवती तो हुई, पति बना रहा पर यदि उनका प्रेम पत्नीपर न रहा तो वह भी जीवन व्यर्थ है। इससे दूसरा आशीर्वाद देती हैं कि पार्वतीजीके सदृश पति तुम्हारा प्यार करें। अर्थात् पार्वतीजी शिवजीको इतनी प्रिय हुईं कि उनको अपनी अर्द्धाङ्गिनी बना लिया वैसे ही तुम्हारे पति तुमपर अत्यन्त प्रेम करें। (*'पारबती सम पति प्रिय होहू'* का दूसरा भाव यह है कि शेषके सिरपर पृथ्वी भी सदैव नहीं रहतीं, पृथ्वी भी नाशवती है; अतएव अक्षय सौभाग्यके लिये *'पारबती सम पति प्रिय होहू'* कहा। पार्वतीका सुहाग अक्षय है क्योंकि वे शिवजीके अर्द्धाङ्गमें ही निवास करती हैं और शिवजी अविनाशी हैं। पुनः 'पार्वती' शब्द देकर अचलता कही, पर्वत अचल है। पार्वती-तन वैसे ही अचल है। उसी प्रकार तुम अचल हो। भाव यह कि सर्वकालमें एक रस प्रिय बनी रहो। स्त्रियोंके सुहागमें परम सौभाग्य है 'पतिका प्रेम स्त्रीपर'; अतएव कहा कि पार्वतीके समान पतिको प्रिय हो। (पा०) में पूर्वोपमा है। *'पारबती…'*

टिप्पणी—२ *'मधुर बचन कहि कहि परितोषी।'* इति। सम्यक् प्रकारसे संतुष्ट किया जैसे कहा कि—तुमने हमें बड़ा सुख दिया। जल, पात्र इत्यादिसे बड़ा शिष्टाचार किया है, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, लौटती बार इधरसे आये तो तुमसे बिना मिले न जायँगी, तुम्हें हम कदापि भूल नहीं सकतीं, तुम भुलाने योग्य नहीं हो……इत्यादि।

टिप्पणी—३ *'जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी'* इति। स्त्रियोंकी उपमा कुमुदिनीसे दी, क्योंकि ये पूर्व संकुचित थीं, यथा—*'सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥'* श्रीसीताजी कौमुदी अर्थात् ज्योत्स्ना हैं और रामजी चन्द्रमा हैं, चन्द्रमाके आश्रित चाँदनी है और उससे देखने मात्रको पृथक् है, नहीं तो उससे पृथक् नहीं, यथा—*'कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई।'* वैसे ही ये दोनों हैं। चाँदनी पड़ते ही कोई प्रफुल्लित

वाल्मीकीय और अ० रा० से अनेक स्थानोंपर भिन्न है। 'कल्प भेद हरि चरित सुहाए'। साहित्यकी दृष्टिसे इस प्रसङ्गको हनु० ना० के ३। १६। १७ का विस्तार कह सकते हैं।

* पाँड़ेजी—भाव यह कि इस मार्गसे लौटना तो दर्शन देना और यदि न लौटना तो निज दासी जानना (ऐसा समझकर भूलना नहीं)।

हो जाती है, खिल उठती है, वैसे ही ये सब अब प्रफुल्लित हो गयीं, संकोच जाता रहा। अब रही रात सो यहाँ क्या है? *'राका-रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम'* अर्थात् स्त्रियोंमें जो भक्ति है वही रात्रि है। *'लखीं सीय सब प्रेम पियासी'*—प्रेमकी प्यास ही भक्ति है।

तबहिं लषन रघुबर रुख जानी। पूँछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी॥५॥
सुनत नारि नर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥६॥
मिटा मोदु मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥७॥
समुझि करम गति धीरजु कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा॥८॥
दो०—लषन जानकी सहित तब गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि लिए लाइ मन साथ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामचन्द्रजीका रुख (रुचि) जानकर लक्ष्मणजीने कोमल मीठी वाणीसे लोगोंसे रास्ता पूछा॥५॥ स्त्री-पुरुष सुनते ही दुःखी हो गये (क्योंकि मार्ग पूछनेसे समझ गये कि अब चलना चाहते हैं), उनके शरीर रोमाञ्चित हो गये, दोनों नेत्रोंमें जल भर आया॥६॥ उनके मनसे आनन्द जाता रहा, मन उदास और दुःखी हो गया। मानो विधाता दी हुई निधिको छीने लेता है॥७॥ कर्मकी (कठिन) गतिको विचारकर उन्होंने धैर्य धारण किया। और आपसमें निर्णय करके सीधा और अच्छा रास्ता उन्होंने बता दिया॥८॥ तब श्रीलक्ष्मणजानकीसहित रघुनाथजीने प्रस्थान किया अर्थात् चल दिये। (सब लोग साथ लग गये अतएव) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया पर उनके मनको अपने साथ लगाये लेते गये॥११८॥

नोट—*'रघुबर रुख जानी'*—यह उत्तम सेवकका धर्म है कि बिना कहे ही चेष्टा आदिसे जीकी जानकर कार्य करे, कहना न पड़े। *'पूँछेउ मगु'*—जान पड़ता है कि वाल्मीकि-आश्रम या चित्रकूटका मार्ग पूछा।

नोट—२—*'बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने'* इति। श्रीराम-लक्ष्मण-सीता ये तीनों निधियाँ विधाताद्वारा प्राप्त हुई थीं, वही अब छीने लेते हैं। देने और छीननेमें दोनोंमें विधिको समर्थ दिखाया। दोनोंको विधाताके अधीन दिखाया।—*'कठिन करम गति जान बिधाता'* इसीसे विधिका देना और छीनना कहा।

नोट-३—*'समुझि करम गति धीरजु कीन्हा'* इति। अर्थात् प्रारब्ध अमिट है, कठिन है, किसीके मिटाये नहीं मिट सकता। विधाताने हमारे कर्मके अनुसार हमको इतनी देर सुख दिया, हमारे प्रारब्धमें इतनी ही देर इनके संयोगका सुख था, भाग्य होगा और शरीर रहा तो फिर दर्शन होंगे। (पाँड़ेजी कहते हैं कि 'कर्मगतिको इस प्रकार समझा कि जिस कर्मने हमें अद्भुत दर्शन दिया, वही कर्म वियोग देता है, हम क्यों सोच करें। पुनः, दूसरा भाव कि कर्मने इनको माता-पिताकी गोदसे निकाल दिया तो हम क्षणमात्रके वियोगसे क्यों विकल होते हैं।)

नोट-४—*'सोधि सुगम मगु'* से जनाया कि वहाँसे चित्रकूटको कई मार्ग फूटे थे। *'फेरे सब प्रिय बचन कहि'*—जैसे जानकीजीने ऊपर स्त्रियोंसे कहे हैं। वाल्मी० २। ५५ में श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूटका मार्ग बताया है कि यहाँसे यमुनाके तीर-तीर आप जायँ, आगे यमुनाकी प्रखर धारा मिलेगी उसे नौकासे पार करनेपर एक श्यामवट वृक्ष मिलेगा जहाँ सिद्धगण रहते हैं। वहाँसे एक कोसपर नीलकानन मिलेगा जिसमें सल्लकी, बेर और जामुनके वन हैं। वही चित्रकूटका मार्ग है, मैं बहुत बार उस मार्गसे गया हूँ, वह बड़ा ही सुन्दर और रमणीय है—**'स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया। रम्यो मार्दवयुक्तश्च दानवैश्चैव विवर्जितः॥'** (९)—यह सब भाव *'सोधि सुगम मगु'* में आ जाते हैं। जिस मार्गसे वे लोग स्वयं गये हैं और जो रमणीय है और निकटका है वही बताया।

नोट—५ *'लिए लाइ मन साथ'*—अर्थात् मन उनका रामजीमें अनुरक्त, उन्हींके ध्यान, वार्ता आदिमें है, और तनसे लौटते हैं। रसखानने क्या खूब कहा है—*'रसखान गोबिंदहि यों भजिए जस नागरिको चित*

गागरिमें।' तन कहीं रहे पर मनोमय शरीर श्रीरामजीहीमें रहे—यह सार है। मन साथ लिये जैसे गोपियाँ रासमण्डलमें भी रहीं और अपने पतियोंके साथ भी दूसरे तनसे रहीं, जैसे पतिव्रताका मन पतिमें रहता है पर व्यवहारमें सबकी सेवा करती है।

गीतावलीके—***'सखि जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई। तब तें परे न कल कछू न सोहाई॥ नख सिख नीके नीके निरखि निकाई। तन सुधि गई मन अनत न जाई॥ हेरनि हँसनि हिय लिए हैं चोराई। पावन प्रेम बिबस भई हौं पराई॥'*** (२। ४०) ***'बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही। गए जो पथिक गोरे साँवरे सलोने, सखि संग नारि सुकुमारि रही॥ जानि पहिचानि बिनु आपु ते आपनेहु तें प्रानहुँ तें प्यारे प्रियतम उपही। सुधाके सनेह हू के सार लै सँवारे बिधि, जैसे भावते हैं भाँति जाति न कही॥ बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत तन पुलक नयन जलधार बही। तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुबती सिथिल बिनु प्रयास परीं प्रेम सही॥'*** (२। ३८) ***'नीके कै मैं न बिलोकन पाए।'*** ***सुंदर बदन बिसाल बाहु उर तनु छबि कोटि मनोज लजाए। चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानौं न कौन कहाँ तें धौं आए। मन गयो संग सोच बस लोचन मोचत बारि कितौ समुझाए॥ तुलसिदास लालसा दरस की सोइ पुरवै जेहि आनि देखाए॥'*** (२। ३२)—इन उद्धरणोंको ***'लिए लाइ मन साथ'*** की व्याख्या समझिए।

फिरत नारि नर अति पछिताहीं। दैअहिं दोषु देहिं मन माहीं॥ १॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ २॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ ३॥
रूख कलपतरु सागरु खारा। तेंहि पठए बन राजकुमारा॥ ४॥

शब्दार्थ—दैअहिं=दैवहि=दैवको। निपट=बिलकुल। निरंकुस=स्वतन्त्र, स्वेच्छाचारी। रुज=रोग, रूख=वृक्ष, सूखी लकड़ी।

अर्थ—स्त्री-पुरुष लौटते हुए अत्यन्त पछताते हैं और मनमें दैव (प्रारब्ध,भाग्य)-को दोष देते हैं॥ १॥ दुःखसे आपसमें कहते हैं कि विधिके सभी काम उलटे हैं॥ २॥ वह बड़ा ही स्वतन्त्र, निर्दयी और निडर है जिसने चन्द्रमाको रोगी और कलंकी बनाया, कल्पवृक्षको 'रूख' (वृक्ष) और समुद्रको खारा बनाया उसीने राजकुमारोंको वन भेजा॥ ३-४॥

नोट—***'पछिताहीं'***। पछताना इससे कि—ये वनके योग्य नहीं। वा, ऐसा दर्शन फिर हमें क्यों होना है। पुनः, हम नीच हैं, इनकी सेवाका अधिकार हमें नहीं। वा, ऐसा मोह हमको क्यों हुआ कि साथ छोड़कर हम वियोगमें दुःख पा रहे हैं। यथा—***'पथिक पयादे जात पंकजसे पाय हैं। मारग कठिन कुस कंटक निकाय हैं॥ मग लोग देखत करत हाय हाय हैं। बन इनको तो बाम बिधि कै बनाय हैं॥'*** (गी० २। २८) ***'पुनि कहँ यह सोभा कहँ लोचन देह गेह संसार।'*** (गी० २। २९) ***'पंकज से पगनि पानह्यौ न परुष पंथ, कैसे निबहेहैं निबहैंगे गति नई है। एही सोच संकट मगन मग नर नारि सब की सुमति राम राम रँग रई है।'*** (गी० २। ३४) ***'आँखिनमें सखि राखिबे जोग इन्हैं किमि कै बनवास दियो है।'*** (क० २। २०)

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ ***'सहित बिषाद'*** कहकर दैवको दोष लगानेका कारण बताया कि आर्त्त-वश हैं, इससे दोष देते हैं। यथा—***'लोक रीति देखी सुनी ब्याकुल नर नारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहि गारी॥'*** (वि० ३४)

टिप्पणी २—***'निपट निरंकुस.....'*** अर्थात् यदि ऐसा न होता—किसीका दबाव होता तो उसके वश रहकर उसके आज्ञानुसार करते; जैसे हाथी अंकुशके वश होकर पीलवानकी आज्ञामें चलता है। दया होती तो दूसरोंके दुःखसे पीड़ित हो दुःख न देता। किसीकी शंका होती कि कोई कुछ कहे न, तो सोच-विचारकर काम करता—सारे ब्रह्माण्डको आह्लादकारक, अमृत स्रवनेवाले, द्विजराजको रोगी और गुरु-अपमानसे कलंकित न करता। [रोग और कलंककी कथा बा० दोहा २३७ और २३८ (१) में देखिये। ***'सरुज'***

अर्थात् क्षयी रोग है। चन्द्रमामें बीचमें जो स्याही झलकती है उसीपर अनेक कल्पनाएँ हैं—देखिये लं० १२ (४)-१२] पुनः, कल्पवृक्ष जो मनको जानकर अर्थ, धर्म, काम देता है, ऐसे सुजान और उदार दाताको जड़ (स्थावर) वृक्ष न बनाता। और समुद्र जिसमेंसे रत्न निकले, जिससे मेघद्वारा जीवोंका पालनपोषण होता है, जो जलकी राशि है, ब्रह्मकुल है, उसको खारा न करता कि किसीके काम न आ सके।

टिप्पणी-३—*'बिधि करतब उलटे……'* अर्थात् नाम तो है विधि, पर करता है अविधि अर्थात् भलाईमें बुराई मिला देता है।

पंजाबीजी—विधाताकी अविधिके उदाहरण देते हैं कि चन्द्रमाको बड़ा सुन्दर बनाकर फिर उसमें *'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई……'* आदि रोग और कलंक लगाकर उसे दुखी किया जिसमें शोभा पूर्ण न रहे। *'सागरु खारा'*—१४ रत्न तो क्षीरसागरसे निकले हैं वह तो खारा नहीं है, पर गोस्वामीजीने अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है। इससे जान पड़ता है कि किसी कल्पमें इससे ही लक्ष्मी आदि रत्न निकले होंगे। अथवा, रत्नखानि यह भी है, मुक्ता आदि निकलते हैं। *'तेंहि पठए बन'* अर्थात् राजकुमारोंके गुण न देख सका, इससे ईर्ष्यावश इनको वनमें भेज दिया।

वि० त्रि०—*'निपट निरंकुस…राजकुमारा'* इति। विधि निरंकुश है, इसका प्रमाण यह है कि *'ससि कीन्ह सरुज सकलंकू।'* विधि निष्ठुर हैं, इसका प्रमाण यह कि कल्पतरुको वृक्ष बना दिया। विधि निःशङ्क हैं इसका प्रमाण यह कि समुद्रको खारा कर दिया। तीन पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर ब्रह्मदेवके तीनों दोष पृथक्-पृथक् दिखलाये। अब कहते हैं कि इन राजकुमारोंको वन भेजकर अपने तीनों दोषोंको एक साथ ही व्यक्त कर दिया।

प० प० प्र०—तीनों उदाहरणोंमें कुछ-न-कुछ विशेषता है। शशि-सौन्दर्य, तापहरणशक्ति, सुधामयता आदिका निदर्शक है पर इसमें दोष है। श्रीरामचन्द्रजी हैं—*'राकाससि रघुपति……'*; पर उनमें चन्द्रमाके दोष नहीं है, यथा—*'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।'* (१। १६) चन्द्रमामें सोलह दोष हैं (३। २८। ६ *'चले जहाँ रावन ससि राहू।'* में देखिये)। सागर अपार, अगाध, निर्मल जलका निधि और रत्नादिसे युक्त है पर उसमें भी दोष है। श्रीरामजी सिंधुके समान अपार, गम्भीर आदि हैं पर इनमें दोष नहीं है। कल्पवृक्ष स्थावर है यह दोष है। श्रीरामजी कल्पतरु हैं पर उनमें उसका दोष नहीं है। इन उदाहरणोंसे दिखाया कि विधिरचना निर्दोष हो ही नहीं सकती। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी गुणोंमें तीनोंके समान होते हुए भी निर्दोष हैं। अतः ये *'आपु प्रगट भए बिधि न बनाए'*, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता)।—यह गूढ़ भाव है। (वीरकवि—दूसरेका दोष विधातापर मढ़ना द्वितीय असंगति अलंकार है। *'जेहिं लखि…कुमारा'* में सम्भव प्रमाण अलंकार है।)

जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥ ५॥
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥ ६॥
ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता॥ ७॥
तरु बर बास इन्हहि बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा॥ ८॥

दो०—जौं ए मुनिपट धर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार॥ ११९॥

जौं ए कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं॥ १॥

अर्थ—निश्चय ही जो विधाताने इन्हें बनवास दिया तो उसने भोग-विलास व्यर्थ ही बनाया॥ ५॥ ये बिना जूतोंके रास्तेमें चल रहे हैं तो विधाताने अनेक सवारियाँ व्यर्थ ही बनायीं॥ ६॥ ये जमीनपर कुश और पत्ते बिछाकर रहते हैं तो फिर विधाता सुन्दर सेज क्यों बनाता रचता है॥ ७॥ इनको विधाताने बड़े-बड़े पेड़ोंके नीचे वास (ठहरनेका स्थान) दिया तो उसने सुन्दर स्वच्छ घर (महल) बना-बनाकर परिश्रम ही तो किया॥ ८॥ जो ये अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार होकर भी मुनियोंके वल्कल वस्त्र और

जटाएँ धारण करते हैं तो फिर करतार-(विधाता-) ने तरह-तरहके भूषण-वस्त्र व्यर्थ ही बनाये॥ ११९॥ जो ये कन्द, मूल, फल खाते हैं तो संसारमें अमृत आदि (के-से स्वादिष्ट) भोजन व्यर्थ ही हैं॥ १॥

नोट—*'कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू'* कहकर फिर आगे भोग-विलासके पदार्थोंका वर्णन है। पदत्राण, रथ, घोड़े आदि सवारियाँ, तोशक-तकिये, पलंग इत्यादि शय्याकी सामग्री, बड़े-बड़े महल, भूषण, वस्त्र, मुकुट, किरीट, कुण्डल, ५६ प्रकारके भोजन इत्यादि भोग-विलासके पदार्थ हैं। भाव यह कि जो जिस पदार्थका पात्र है, अधिकारी है, उसको वही मिलना चाहिये; अनधिकारीको न मिलना चाहिये। इनसे अधिक योग्य पात्र इन सब भोग-विलासोंका संसारमें नहीं दिखता। जब इनको वे न मिले तो व्यर्थ ही हैं। अनधिकारी इनकी कदर क्या जान सकता है—बन्दर क्या जाने अदरकका स्वाद। पात्रके लिये दोष और अपात्रके लिये गुण अविवेक ही तो है; अतएव विधाताके कर्तृत्व उलटे ही जान पड़ते हैं। यह सुनकर दूसरे बोले—।

पंजाबीजी—'रामचन्द्रजीको दुःखी मानकर ब्रह्माकी भोगविलास आदि रचनाको इनकी प्राप्ति बिना निष्फल दिखाते हैं। १२ चरणोंमें उल्लास अलंकार है। यहाँतक उनके वचन हैं जो इनको विधाताके रचे हुए मानते हैं। आगे १२० (२) से दस चरणोंमें उनके वचन हैं जो श्रुति और युक्तिसे इनको विधातासे अकृत्रिम साधते हैं।'

वि० त्रि०—ऊपर विधिका अच्छोंके साथ बुरा व्यवहार दिखलाकर अब राजकुमारोंके साथ अनुचित व्यवहारोंकी तालिका देते हैं। ये राजकुमार भोगविलास, वाहन, सुन्दर शय्या, धवल धाम, भूषण-वसन और सुधादि अशनके पात्र हैं। इन्हें यदि ये वस्तुएँ अप्राप्त कर दीं तो विधिने इन वस्तुओंको बनाया ही क्यों? जब बनाया तो इनसे बढ़कर योग्य उपभोक्ता कहाँ मिलेगा[1] सो इन्हें वनवास दिया, पैदल फिराया, पृथ्वीपर सुलाया, पेड़ तले ठहराया, वल्कल पहनाया और कन्दमूल खिला रहे हैं। अतः सिद्ध है कि *'बिधि करतब उलटे सब अहहीं।'* इस भाँति ग्राम-नर पछताते हैं, और ब्रह्मदेवको दोष दे रहे हैं।

एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥ २॥
जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥ ३॥
देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥ ४॥
इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा॥ ५॥
कीन्ह बहुत श्रम अैक * न आए। तेंहि इरिषा बन आनि दुराए॥ ६॥

शब्दार्थ—अैक=अंदाज—(रा० प्र०)। *'ऐक नहिं आए'*=ढाँचा न बन सका, खाका न खिंचा—(दीनजी) ऐक=ऐक्य=समानता, सादृश्य।

अर्थ—कोई कहते हैं कि ये तो सहज ही (भूषण-वस्त्र रहित भी) सुन्दर हैं, ये आप-ही-आप प्रकट हो गये हैं, विधाताने इन्हें नहीं बनाया॥ २॥ (अब अपनी बातका प्रमाण देते हैं कि) वेदोंने जहाँतक विधाताकी करनी कही है वह कानों, नेत्रों और मन आदि इन्द्रियोंका विषय (अर्थात् इन इन्द्रियोंकी पहुँच जहाँतक है) वर्णन किया गया है॥ ३॥ चौदहों भुवनोंमें खोज (ढूँढ़) देखो—ऐसा पुरुष कहाँ है और ऐसी स्त्री कहाँ है॥ ४॥ इनको देखकर विधाताका मन अनुरक्त हो गया (मुग्ध हो गया) तब इनकी समताके योग्य (अर्थात् इनके-से) और बनाने लगा॥ ५॥ बहुत परिश्रम किया पर अटकलहीमें न आया कि कैसे बनावें। इसी ईर्ष्याके कारण इनको वनमें लाकर छिपा दिया॥ ६॥

नोट—१ (क) वक्ताने इन ग्रामवासियोंके मुखसे यहाँ इनका यथार्थ-स्वरूप कहलाया है। यथार्थ ऐसा ही है, तथा—*'इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'* (१। १५२। १) और *'भए प्रगट कृपाला'* इत्यादि। (ख) *'सहज सुहाए'*—मिलान कीजिये—*'रूप शोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं। मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं॥'* (गी० २। २८) *'तापस रूप किए काम कोटि फीके हैं।'* (गी० २। ३०)

---

* एक—रा० प्र०। १-गी० प्रे०।

नोट—२ *'श्रवन नयन मन गोचर बरनी'* अर्थात् वे सुने जाते हैं, देखे जाते हैं या मनसे उनका विचार किया जाता है, अनुभव किया जाता है। सो हमने जो कुछ सुना, देखा और अनुभव किया है।

'तेहि इरिषा बन आनि दुराए'—सरस्वतीको भेजकर कैकेयीसे वर मँगवाया, वनवास कराया, बस, विधिसे इतना ही करते बना।

नोट—३ *'देखहु खोजि''''''नारी'* इति। बालकाण्डमें एक सखीने जो कहा है कि *'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥ बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥''''''अंग अंग पर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम।'* (२२०) और कविने जो कहा है—*'जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥''''''*' (१। २४७) वही सब भाव ग्रामवासियोंके इन वचनोंका है। विशेष भाव वहीं देखिये। और भी मिलान कीजिये:—*'बानी बिधि गौरी हर सेषहू गनेस कही सही भरी लोमस भुसुण्डि बहुबारिषो। चारिदस भुवन निहारि नरनारि सब नारद को परदा न नारद सो पारिखो॥ तिन्ह कही जग में जगमगात जोरी एक दूजोको कहैया औ सुनैया चपु चारिखो। रमा रमारमन सुजान हनुमान कही सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो॥'* (क० १। १६)

वीरकवि—ये ब्रह्माके बनाये नहीं हैं इस शुद्धापह्नुतिमें यह कारण दिखाना कि ऐसी सुन्दरता ब्रह्मा नहीं बना सकते, ये स्वयं प्रकट हुए हैं 'हेत्वापह्नुति अलङ्कार' है *'देखहु खोजि''''''*' में चतुर्थ प्रतीपकी ध्वनि है। श्रीरामजीके वनमें आनेकी बातको हेतुसूचक युक्तियोंसे समर्थन करना। 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। व्यङ्गार्थमें 'ललितोत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥८॥
दो०—एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर॥१२०॥

अर्थ—कोई कहते हैं कि हम बहुत अर्थात् यह सब कुछ तर्क-वितर्ककी बातें नहीं जानते, हाँ अपनेको परम भाग्यवान् और कृतकृत्य मानते हैं॥७॥ और हमारी समझमें* वे भी बड़े ही पुण्यवान् हैं जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है॥८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर नेत्रोंमें जल भर लेते हैं (अर्थात् प्रेमवार्तासे प्रेम हृदयमें नहीं अमाता, उमड़कर प्रेमाश्रुद्वारा नेत्रोंसे प्रकट हो जाता है और शोकातुर होकर वे कहते हैं) कि ये कठिन रास्तेमें कैसे चलेंगे, इनका अत्यन्त सुकुमार शरीर है॥१२०॥

नोट—१ *'आपुहि परम धन्य'''*' इति। मिलान कीजिये मिथिलावासिनियोंके *'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुरबासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥'* (१। ३१०) इन वचनोंसे। पुनश्च यथा—*'को जानै कौन सुकृत लह्यौ है लोचन लाहु।'* (गी० १९)

नोट—२ *'लेहिं नयन भरि नीर'''सरीर'* इति। मिलान कीजिये—*'पायन तौ पनहीं न पयादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है।'* (क० २। १९) *'बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखी मोहि सी ह्वै। मग जोग न कोमल क्यों चलिहैं सकुचाति मही पद पंकज छ्वै॥ तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै। सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥'* (क० २। १८)

३ दोहेमें प्रथम विषम अलङ्कार है।

नारि सनेह बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं॥१॥
मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदय कहइँ[1]बर बानी॥२॥

---

* पाण्डेजी—हम लेखे अर्थात् हमारी गणनामें, हमारे बराबर।

१ कहहिं-गी० प्रे०। कहइ-रा० प्र०। कहईं-लाला सीताराम।

परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥ ३॥
जौं जगदीस इन्हहिं बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥ ४॥
जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—**साँझ**-संध्या-समय, सायंकाल, शाम। **गहबरि**=गद्‌गद,व्याकुल, उद्विग्न, किसी ध्यानमें मग्न या बेसुध, यथा—*'और सब समाज कुसल न देखों आज गहबरि हिय कहैं कोसलपाल', 'सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर','मुख मलीन हिय गहबर आवै','गहबर हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोच॥'* (२८२)

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेहके वश विकल हो जाती हैं मानो संध्या-समय चकवी (भावी वियोगके कारण दुःखित) शोभित हैं॥ १॥ चरण कमल कोमल हैं और रास्ता कठिन है ऐसा जानकर वे गद्‌गद और व्याकुल हृदयसे श्रेष्ठवाणीसे कह रही हैं—॥ २॥ इनके लाल कोमल चरणोंको छूते ही पृथ्वी वैसे ही सकुचाती है जैसे हमारे हृदय सकुच रहे हैं॥ ३॥ जो जगदीशने इनको वनवास ही दिया था तो रास्तेको पुष्पमय क्यों न कर दिया?॥ ४॥ यदि ब्रह्मासे माँगे मिले तो, हे सखी! इनको आँखोंमें रख लिया जाय॥ ५॥

नोट—१ *'नारि सनेह बिकल बस होहीं।'* इति। ऊपर दोहेतक पुरुषोंके स्नेहका वर्णन हुआ। अब स्त्रियोंका स्नेह और उनकी परस्पर वार्ता वर्णन करते हैं। प्रेमके वश हो वे व्याकुल हो रही हैं। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो वे स्त्रियाँ नहीं हैं किंतु चकवी हैं जो संध्या-समयमें शोभित हो रही हैं। यहाँ अयुक्ति-युक्तालङ्कार है*। पतिके विक्षेपका दुःख है तो *'सोही'* कैसे कहा? इनकी व्याकुलताका कारण रामजीपर इनका स्नेह है इसीसे शोभित होना कहा। पुनः यहाँ वियोग शृङ्गाररसमें दुःखित होना है इससे *'सोही'* लिखा, नहीं तो यदि करुणारसका वियोग होता तो ऐसा न लिखकर लिखते कि *'जाइ न जोही'*। (रा० प्र०, पु० रा० कु०) *'साँझ समय'* कहा क्योंकि अभी तो वियोग हुआ नहीं पर वियोगकी घड़ी आ रही है। पाँड़ेजी कहते हैं कि संध्या-समयसे जनाया कि वियोगका आरम्भ है जो बहुत व्याकुल करता है। चकवीका चकवेसे वियोग रात्रिमें होता है, अभी संध्या है। इस प्रकारकी चौपाइयाँ और भी हैं, तथा—*'जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चंद बिराजा॥'* (१४८) अर्थात् रामविरहमें श्रीहत होना मनुष्यकी शोभा है इसीसे *'बिराजा'* कहा। पर ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमें 'सोहना' इस भावसे नहीं लिखा गया। जैसे—*'भगति हीन नर सोहइ कैसा', 'भयो तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई॥'* इससे मिलान कीजिये। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ चकईकी उपमासे उपपतिका वियोग दर्शित होता है अतएव यहाँ परकीया प्रोषितपतिकाके लक्षण हैं, पुनः, गुणकथन दशा है'। पण्डितजी लिखते हैं कि चकवीको पतिके विक्षेपका दुःख है वैसे ही इनको रामजीके प्रति संयोगका स्नेह है, ईश्वर जीवका पति है। (श्वेताश्वतर उ० में **'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्तात्......।'** (६। ७)' जो *'पतीनाम्'* कहा है वह प्रजापतियोंके अर्थमें है। पतिका अर्थ स्वामी, रक्षक है। ईश्वर समस्त जीवोंका स्वामी है।)

टिप्पणी—१ *'सकुचति महि जिमि हृदय हमारे।'* स्पर्शसे पृथ्वी सकुचती है कि मैं बड़ी कठोर हूँ जैसे हमारे हृदयको संकोच हो रहा है कि हम बड़े कठोर हैं कि रामजीका विक्षेप समझ फट नहीं जाते। (कवितावलीमें भी ऐसा ही कहा है। दो० १२० देखिये।)

वि० त्रि०—सरकारके मृदुल अरुणारे चरणोंको ग्रामवधूटियाँ अपने हृदयमें स्थान देना चाहती हैं, पर स्थान देते समय उनका हृदय संकुचित होता है। ऐसे कलुषित हृदयमें ऐसी पवित्र वस्तुको कैसे रखें? इसी अनुभवके अनुसार वे कह रही हैं कि पृथ्वी भी इनके मृदुल अरुणारे चरणोंके स्पर्शसे संकुचित होती है कि मैं ऐसी कठिन हूँ इस कोमल चरणको कैसे अपने ऊपर स्थान दूँ।

---

* यह पं० रामकुमारजीका मत है; वीरकविजी 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' कहते हैं।

नोट—*'जौं जगदीस'''''* इति। भाव कि वन देना नहीं चाहिये था। और यदि जगदीशने वन दिया ही था तो मार्गको पुष्पमय बना देना था। यहाँ 'वितर्क संचारी भाव' है।

'जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं। रखिअहिं''''' इति।

१—आँखोंमें रखनेका भाव कि कभी इनका विक्षेप न होने दें, बराबर देखा ही करें। पुनः, शरीरमें आँखें सबसे कोमल मानी जाती हैं। अतएव उनकी प्राप्ति होनेपर यही स्थान उनके लिये सर्वोत्तम है। हृदयको कठोर सूचित कर चुकी हैं इससे उसमें बास उचित नहीं समझतीं। इसमें यह भी भाव है कि ध्यान करना पसन्द नहीं करतीं, नित्य आँखोंसे देखना चाहती हैं।

२—बैजनाथजी—शृङ्गाररसमें युवतियाँ सोचती हैं कि हम इन्हें एकान्तमें क्यों पावेंगी, यदि ब्रह्मा कभी एकान्तमें संयोग प्राप्त कर दें तो इनके लायक और कोई स्थान नहीं जँचता, आँखोंहीमें रख लें।

३—पंजाबीजी—नेत्रोंका श्याम गौर वर्ण है, वैसे ही इनका है, अतएव आँखोंसे उनका संयोग चाहती हैं अर्थात् बराबर देखती रहें यह चाहती हैं।

४—रा० प्र०—जब एकने कहा कि *'कस न सुमनमय मारग कीन्हा'* तब दूसरीने पुष्पोंको भी इनके योग्य कोमल न समझकर आँखमें रखनेको कहा।*

जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सियारामु न देखन पाए॥ ६॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गए कहाँ लगि भाई॥ ७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनमफलु पाई॥ ८॥
दो०—अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं॥ १२१॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष इस समयपर नहीं पहुँचे वे श्रीसीतारामजीको न देख पाये॥ ६॥ वे उनके सुन्दररूपकी प्रशस्ति सुनकर व्याकुल होकर पूछते हैं कि हे भाई! अबतक वे कहाँतक पहुँचे होंगे?॥ ७॥ जो समर्थ हैं (जिनके पौरुष और बल है) वे दौड़ते हुए जाकर देखते हैं और जन्म लेनेका फल पाकर बड़े ही आनन्दित हो लौटते हैं॥ ८॥ स्त्रियाँ, छोटे लड़के और बुड्ढे लोग हाथ मलते और पछताते हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ रामचन्द्रजी जाते हैं वहाँ-वहाँके लोग प्रेमके वश हो जाते हैं॥ १२१॥

नोट—१ *'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं'* १२१(५) तक दर्शकोंका हाल कहा। अब उन लोगोंका हाल कहते हैं जो समयपर न पहुँचे।

टिप्पणी—१ *'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई'''''* *'अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं'''''* इति। *'अबला'* शब्द यहाँ साभिप्राय है। यहाँ उसका वास्तविक अर्थ भी प्रकट हो रहा है। अर्थात् 'अ+बला'=जिनमें बल नहीं। और दूसरा 'स्त्री' अर्थ भी साथ-ही-साथ है जिसमें वह प्रयुक्त हुआ करता है। इस शब्दके प्रयोगका आशय यह है कि इन ग्रामवासिनी स्त्रियोंमें भी जो बलवान् हैं वे भी *'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई'* में आ गयीं। इसीसे प्रथम *'जे नर नारि'* पद देकर उसके साथ *'समरथ धाइ'* कहा। इस प्रकार अबलासे केवल उन स्त्रियोंसे तात्पर्य है जो असमर्थ हैं, चाहे सुकुमारता, चाहे अवस्था, चाहे रोग इत्यादि किसी भी कारणसे ऐसी हों कि दौड़कर न जा सकती हों।'

---

* पाँड़ेजी इन चौपाइयोंका दूसरी प्रकार यों भावार्थ कहते हैं—स्त्रियाँ स्नेहसे व्याकुल हो गद्गदहृदय हैं कि—'हे धरती! तू इनके अरुण कोमल चरणोंके स्पर्शसे ऐसी सकुचती है जैसे हमारे हृदय सकुचते हैं, जैसे तू जड़ है वैसे ही हम भी 'जड़ा' हैं। तू जगदीशसे क्यों नहीं कहती कि इनको बनवास दिया तो मार्गको पुष्पमय क्यों न बना दिया, तू इन्हें ब्रह्मासे माँगकर लायी तो ऐसी विपत्तिमें क्यों डाला है? यदि हम विधातासे माँगे पातीं तो हम इनके साथ इस विधिको वर्ततीं कि इन्हें अपनी आँखोंमें ही रख लेतीं।' पृथ्वीको 'सखि' इससे कहा कि वह भी स्त्री है और ये भी; दूसरे यह कि ये उसपर चलते हैं और इनके हृदयमें भी विचर रहे हैं, तीसरे जैसे वह जड़ वैसे ये अपनेको 'जड़ा' कहती हैं।

नोट—२ *'कर मीजहिं'*……'—यह शोक और पश्चात्तापकी मुद्रा है। हाथ मलते हैं मानो हाथसे पदार्थ निकल जानेसे उसकी रेखाएँ मिटाना चाहते हैं।

नोट—३ समर्थ और असमर्थ दोनोंको मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रभुमें अनुरक्त दिखाया। समर्थ—*'बूझहि'* (वचन), *'धाइ बिलोकहिं जाई'* (कर्म) और 'प्रमुदित' (मनसे)। असमर्थ—*'कर मीजहिं'* (कर्म), *'पछितातहिं'* (वचन) और *'होहिं प्रेम बस'* (मनसे)। [इन चौपाइयोंका साधारण अर्थ तो हो चुका। दूसरा अर्थ इनमें यह है—गोस्वामीजी संसारके हितोपदेशके लिये कहते हैं कि जितने स्त्री-पुरुष इस संसारमें हुए हैं, जिन्होंने अपनेको गवाँ दिये हैं (जो परमार्थसे गये-गुजरे हैं) वे सियारामजीको नहीं देखने पाये। फिर अवसरके पीछे जो रामजीके सौन्दर्यको सुनकर और व्याकुल होकर सज्जनोंसे पूछते हैं कि 'हे भाई! *'अब लगि गए'* अर्थात् अबतक तो हम गये-गुजरे रहे, व्यर्थ अवस्था हमारी गयी, पर अब *'कहाँ लगि'* कहाँतक ऐसे ही गँवायेंगे?' सज्जनोंके उपाय बतानेपर जो यज्ञ, योग, तप आदिको समर्थ हैं वे जाकर देख लेते हैं और प्रमुदित होकर फिरा करते हैं। परंतु जो अबला हैं वे सब हाथ मीजते हैं और पछताते हैं; जहाँ-जहाँ लोग इस भाँति प्रेमवश होते हैं वहाँ रामजी स्वयं चले आते हैं—*'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।'* (पाण्डेजी)]

पण्डितजी—*'अबला बालक बृद्धजन'* इति।—अबला अर्थात् जो कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंसे रहित हैं। बालक अर्थात् मूर्ख जो शास्त्रसे हीन हैं और वृद्ध अवस्थासे हीन। इन तीनोंको दर्शन तो न हुआ पर सत्संगमें विद्वानोंसे प्रभुके स्वरूपकी व्याख्या सुनकर उत्कंठित हुए और हाथ मलते हैं कि इनके (हाथोंसे) कर्म भी न बन पड़े, ताड़ना करते हैं और आत्मग्लानिसे पछताते हैं।

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥ १॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥ २॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिं जेइ* लोचन लाहू॥ ३॥
कहहिं परसपर लोग लोगाई। बातैं सरल सनेह सुहाई॥ ४॥

अर्थ—सूर्यवंशरूपी कुईंको (प्रफुल्लित करनेके लिये) चंद्र स्वरूप (रूप श्रीरामजी) को देखकर गाँव-गाँवमें ऐसा ही आनन्द हो रहा है॥ १॥ जो लोग कुछ भी समाचार (वनवास दिये जानेका) सुन पाते हैं वे राजारानीको दोष लगाते हैं॥ २॥ और कोई कहते हैं कि राजा बहुत ही अच्छे हैं कि जिन्होंने हमें नेत्रोंका लाभ दिया॥ ३॥ स्त्री-पुरुष सभी आपसमें एक-दूसरेसे सरल (भोलीभाली, सीधी-सादी, सौम्य) प्रेमयुक्त और सुन्दर बातें कह रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'गाँव गाँव अस होइ अनंदू'*……' अर्थात् कुछ एक दो ही ग्रामोंमें नहीं, किंतु जितने गाँव मार्गमें पड़ते हैं सबमें ऐसा ही आनन्द होता है (जैसा एक ग्रामका लिखा गया)।

टिप्पणी—२—*'भानुकुल कैरव चन्दू'* का भाव कि सूर्यवंशको विकसित करने और आनन्द देनेवाले तो हैं ही पर चन्द्ररूपसे ब्रह्माण्डभरको भी आनन्द देते हैं जैसे चन्द्रमा संसारभरको आनन्द देता, सबको प्रकाश देता और शीतल करता है; पर कुईंको उससे विशेष लाभ होता है। दोहा १२२ भी देखिये।

नोट—१ *'ते नृप'*……' इति। मिलान कीजिये—*'पानही न चरनसरोजनि चलत मग, कानन पठाए पितु मातु कैसे ही के हैं।'* (गी० २। ३०) *'कैकेयी कुचालि करि कानन पठाए। बचन कुभामिनि के भूपहि क्यों भाए। हाय-हाय राय बाम बिधि भरमाए॥'*……' (गी० २। ३९) *'कैसे पितु मातु प्रिय परिजन भाई। जीवत जीवके जीवन बनहिं पठाई॥'* (४०) जैसे अवधवासी दोष देते थे वैसे ही ये दे रहे हैं। पूर्व, दोहा ४७ (१) से ४८ (३) तक जो कहा है कि वही भाव यहाँ लगा लें।

* जेहि—रा० प्र०। जोइ—गी० प्रे०। जेइ—लाला सीतारामजी।

नोट—२—'*कहहिं परसपर लोग लोगाईं।*·····' अर्थात् पुरुष पुरुषसे, स्त्री स्त्रीसे कहते हैं। '*सरल*' और स्नेहयुक्त होनेसे सुहाई कहा। (पं० रा० कु०)

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगरु जहाँ तें आये॥ ५॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥ ६॥
सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही॥ ७॥
राम लषन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥ ८॥

दो०—एहि बिधि रघुकुलकमलरबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाँहि चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत॥ १२२॥

शब्दार्थ—**पथि**=(सं० पथिन्) पथिक, रास्ता चलनेवाले, बटोही।

अर्थ—धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने इन्हें जन्म दिया; पैदा किया; धन्य है वह नगर जहाँसे ये आये हैं॥ ५॥ धन्य है वह देश, पर्वत, वन और गाँव जहाँसे होते हुए ये आते हैं। वही-वही स्थान धन्य हैं जहाँ-जहाँ ये जाते हैं*॥ ६॥ ब्रह्माने उसीको बनाकर सुख पाया है (अर्थात् अपने परिश्रमको सुफल माना, अपनेको कृतार्थ माना) जिसके ये सब प्रकारसे स्नेही हैं॥ ७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकोंकी सुन्दर कथा सब रास्ते और वनमें छा गयी है॥ ८॥ इस प्रकार रास्तेके लोगोंको सुख देते हुए रघुकुलरूपी कमलके (खिलानेको) सूर्यरूप श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीता-लक्ष्मणजीसहित वनको देखते हुए चले जा रहे हैं॥ १२२॥

टिप्पणी—१ '*ते पितु मातु धन्य*·····' इति। श्रीकौसल्याजी और श्रीदशरथजी महाराजने तपस्या, यज्ञ और भक्ति इत्यादि करके इनको प्रगट किया और हमको भी इनके दर्शनका लाभ दिया। अतएव वे धन्य हैं अर्थात् वे बड़े सुकृती हैं, पुण्यात्मा हैं—'**सुकृती पुण्यवान् धन्यः।**' ['धन्य' शब्दका अर्थ पुण्यवान् तो है ही, पर इसका प्रयोग—प्रशंसाके योग्य, कृतार्थ—इन अर्थोंमें भी ऐसे स्थलोंपर होता है। शब्दसागरमें लिखते हैं कि 'इस शब्दका प्रयोग साधुवाद देनेके लिये प्रायः होता है, जैसे किसीको कोई अच्छा काम करते देख या सुनकर लोग बोल उठते हैं—'धन्य! धन्य!' वैसा ही प्रयोग यहाँ है। श्रीरामजीके सम्बन्धसे सबका धन्य होना व्यङ्ग्यार्थद्वारा 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है।]

टिप्पणी-२—'*सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही।*·····' इति। ब्रह्माको सुख हुआ कि हमारी रची हुई सृष्टिमें ऐसे-ऐसे जीव हैं। (उदाहरण)—'*जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥*' (१। १६। ८) देखिये। [इन वाक्योंसे श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीकी अपार सुन्दरता और सुकुमारता आदि व्यंजित होना 'वाच्यसिद्धाङ्गगुणीभूतव्यङ्ग' है। (वीर)] '*सब भाँति सनेही*' अर्थात् माता-पिता-भ्राता आदि सब नाते, धन-सम्पत्ति सम्पूर्ण स्वार्थ इन्हींसे है और इन्हींको मान लिया। यथा—'*स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।*' (१३०) मिलान कीजिये '*पिता रामु सब भाँति सनेही।*' (७४)(२) देखिये।

वि० त्रि०—'*सुखु पायेउ*·····*सनेही*' इति। लोग-लोगाइयोंका भी यही मत है कि '*आपु प्रगट भये बिधि न बनाए*' क्योंकि '*बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना*' है और इनमें गुण-ही-गुण हैं, अवगुण नाएको नहीं। अतः ये विधिके बनाये नहीं हैं, आप-से-आप ही प्रकट हुए हैं। ऐसा दूसरा न बना पानेसे विधिको ईर्ष्या हुई, परंतु 'इनके जो सब भाँतिसे स्नेही हैं, वे तो मेरे बनाये हैं' यह समझकर ब्रह्मदेवको सुख हुआ अर्थात् जिनके ये स्नेही हैं, उनका इतना बड़ा माहात्म्य है कि उनके बनानेसे ब्रह्मदेव अपनेको धन्य मानते हैं, यथा—'*जिनहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता।*'

* 'जहाँ ते आये' और 'जहँ जहँ जाहिं' को दीपदेहली माननेसे अन्वय ठीक होता है—'सो नगर धन्य जहाँ ते आये, सो देसु, सैल, वन, गाँव धन्य जहाँसे होते आये और सोई (देश, शैल, वन, गाँव इत्यादि) ठाँव धन्य जहाँ-जहाँ ये जाते हैं। बैजनाथजीने भी ऐसा ही अर्थ लिया है।

टिप्पणी—३ *'एहि बिधि रघुकुलकमलरबि·····'* इति। *'रघुकुलकमलरबि'* का भाव कि ब्रह्माण्डभरके प्रकाशक हैं पर रघुकुलको विशेष सुखदाता हैं।

टिप्पणी-४—पहिले श्रीरामजीको भानुकुल-कैरव-चन्द्र कहा और यहाँ रघुकुलपर कमलका आरोप करके उनको रवि कहा। दो जगह दो बातें कहीं; क्योंकि दोनों सूर्य और चन्द्र मिलकर जगत्‌का पालन-पोषण-रूपी हित करते हैं। यथा—*'जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन।'* पुनः, किसीको चन्द्रमासे दुःख और किसीको सूर्यसे, अतएव दिखाया कि ये दोनों रूपसे जगत्‌का हित करते हैं, किसीको दुःखद नहीं। पुनः, सूर्य-चन्द्रमामें अलग-अलग जो गुण हैं वे इनमें एक ही ठौर दिखाये। पुनः चन्द्रमाका प्रकाश रातको और सूर्यका दिनमें होता है; एक बार चन्द्ररूप दूसरी बार सूर्यरूप कहकर जनाया कि श्रीरामजी सबको रातो-दिन सुख देनेवाले हैं।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि—*'कहहिं एक अति भल नरनाहू'* (१२२(३) से *'धन्य सो देसु सैल बन गाऊँ·····।'* तक वृद्धा स्त्रियोंकी वार्ता है जो शान्तरसकी है। और *'सुखु पायेउ बिरंचि रचि तेही।'*, यह युवतियों (युवावस्थावाली स्त्रियों) की वार्ता है जो शृङ्गाररसयुक्त है।

आगें रामु लषनु बनें पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥ १॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥ २॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥ ३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥ ४॥

शब्दार्थ—**'काछे'**—काछना (सं० कक्ष) बनाना, सँवारना, पहनना, धारण करना, यथा—*'गौर किसोर बेष बर काछें। कर सर चाप रामके पाछें॥'* (१। २२१। ७) *'एई राम लषन जे मुनि संग आये हैं। चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पीछे'* (गी० १। ७२) **लसना**=शोभित होना, फबना, विराजना।

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे लक्ष्मणजी शोभित हैं। तापसवेष बनाये हुए विशेष शोभायमान हैं॥ १॥ दोनोंके बीचमें श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया॥ २॥ इसी छबिको मैं फिरसे (उस रीतिसे) कहता हूँ जैसी कि मेरे मनमें बसी हुई है—(ऐसा मालूम होता है) मानो वसन्त और कामदेवके बीचमें रति (कामदेवकी स्त्री) शोभायमान है॥ ३॥ मनमें खोजकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानो बुध और चन्द्रमाके बीचमें रोहिणी सोह रही है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'आगें रामु लषनु बनें पाछें।'* इति।—आगे श्रीरामजी, बीचमें श्रीजानकीजी और इनके पीछे लक्ष्मणजी। तपस्वी वेषके जितने चिह्न चाहिये, वे सब बनाये हुए हैं। *'बिराजत'* पद देकर जनाया कि यह न समझो कि इस वेषमें अच्छे न लगते होंगे, वे इस वेषमें भी बहुत ही शोभित हैं, देदीप्यमान हैं। यहाँ लक्ष्मणजीके प्रति *'बनें'* पद दिया, श्रीरामजीके लिये नहीं, कारण यह कि राम परब्रह्म हैं, वे स्वतःसिद्ध हैं, एकरस हैं और जीव एकरस नहीं; अतएव इसका बनना यथार्थ ही है। (बैजनाथजी—वल्कल आदि धारण किये विराजमान हैं अर्थात् वेष देखनेसे महामुनीश्वररूप दर्शित होता है।)

'उभय बीच सिय सोहति कैसें·····सोही' इति।

इसपर महानुभावोंने बहुत कुछ लिखा है। कुछ यहाँ दिया जाता है—

१—बाबा हरिहरप्रसादजी—श्रीराम-लक्ष्मणजीके बीच श्रीजानकीजी सुशोभित हैं। बीचमें वे किस प्रकार शोभा पा रही हैं? बस इस बीचमें शोभित होनेमात्रपर यहाँ उपमा दी गयी है। ब्रह्मके पीछे माया रहती है अर्थात् उसके अधीन है और मायाके पीछे जीव रहता है अर्थात् उसका अनुगामी है। यहाँ कुछ यह भाव नहीं है कि लक्ष्मणजी जीव हैं और जानकीजी माया हैं; क्योंकि श्रीजानकीजीको चिद्रूपा ब्रह्मरूपा रामोपनिषद्, तारसारोपनिषद् आदिमें लिखा है जिसके अनुसार राम-जानकी एक ही तत्त्व हैं। लक्ष्मणजीको विष्णुपुराणादिमें ईश्वर-कोटिमें लिखा है। पुनः एक ही पिण्डके विभागसे चारों भाई हुए भी हैं।

यहाँ वस्तुतः ऐसा हुआ भी है। सबसे पहले रामजी पिताकी आज्ञापालन करनेको चले, प्रथम इन्हींको आज्ञा हुई थी, सीताजी इनकी अनुगामिनी हुईं, इनको पतिकी आज्ञा मिल गयी तब इनको साथ देख लक्ष्मणजी सीताजीके अनुगामी बने; अर्थात् वे भी साथ चलनेकी आज्ञा लेने आये। तब माताने आज्ञा दी कि साथ जाओ। दूसरी और तीसरी उपमाओंमें भी केवल बीचमें रहनेकी ही शोभासे तात्पर्य है, उनके सम्बन्धसे तात्पर्य नहीं।—[मदन श्याम-वर्ण वैसे ही रामजी, वसन्त और लक्ष्मणजी स्वर्ण-वर्ण, रति और सीताजी गौर-वर्ण।]

२—बीचमें उनकी शोभा बड़ी अलौकिक है यह बात अलौकिक उपमाएँ देकर जनाया है। बाबू शिवनन्दन सहाय (आरा) लिखते हैं कि पूज्य पति और प्रिय देवरके मध्य सीताजी जा रही हैं। अहा! उसकी कैसी अलौकिक शोभा हो रही है—*'जनु मधु मदन मध्य रति लसई'*,*'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही'* और *'ब्रह्म जीव बिच माया जैसें'*। वाह! क्या ही ललित उपमाएँ हैं!

३—बैजनाथजी—'यहाँ सुन्दरता, सम्बन्ध वा स्नेहसे प्रयोजन नहीं, गमन-समय केवल वेषमात्रका दृष्टान्त है। तपस्वी-वेषके बीचमें जानकीजी कैसी शोभित हैं; अर्थात् उदासी-वेषके बीचमें स्त्री कैसी दिखती है जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया। 'माया तीन प्रकारकी है—अविद्या, विद्या और आह्लादिनी। (क) जैसे अविद्या शुभ नहीं है, जीवको ब्रह्मसे पृथक् कराती है वैसे ही माधुर्यलीलामें प्राकृत दृष्टिसे देखनेसे उदासी-वेषके बीचमें स्त्री अशोभित है। (ख) विद्यामाया जीवको ब्रह्मसे मिलाती है, अतः वह ब्रह्मजीवके बीचमें शोभित है। वैसे ही ऐश्वर्यलीलामें विवेक-दृष्टिसे देखनेसे ये तीनों लोकोद्धारहेतु कैसे चले हैं जैसे जीव भक्तिके पीछे लगा और भक्ति जीवको लिये ब्रह्मसे मिलाने जाती है। (ग) आह्लादिनी ब्रह्म-जीवके बीचमें अति शोभित है; क्योंकि जीवके अंदर ब्रह्मका प्रकाश करती है। इसी तरह ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित लीलामें स्नेहदृष्टिसे देखनेसे वही अगुण अव्यक्त अगम…ब्रह्म राजकुमार हो लोकोद्धारहेतु तापस-वेषसे विचरते गाँवको सुख दे रहे हैं जैसे प्रेमाभक्ति जीवको सहज स्नेहसे ब्रह्ममें लगाये है।' यह दृष्टान्त न भाया क्योंकि वेष अनित्य है, इसलिये दूसरीमें नित्य-स्वरूपकी उत्प्रेक्षा करते हैं। या यों कहिये कि प्रथम वेषको दृष्टिमात्रसे कहा, अब जो छवि मनमें बसती है उसे कहते हैं—लक्ष्मणजी नहीं हैं मानो वसंत हैं, रामजी नहीं हैं मानो कामदेव हैं और सीताजी नहीं हैं मानो रति हैं। तीनों मिलकर दर्शकोंके मनको हरण कर रहे हैं—यह उपमा शृङ्गाररसमें कही। (३) छबि भी देहहीका गुण है। इससे ये उपमाएँ भी न भायीं अतएव तीसरी उपमा, दया आदि गुणयुक्त कही। चन्द्रमाका पुत्र बृहस्पतिकी पत्नी तारासे है, रोहिणी-स्थान जानकीजी और चन्द्र-स्थानमें रामजी। चन्द्रमा और रोहिणी दोनों शुभ नक्षत्र वैसे ही ये दोनों लोक-सुखदाता और लक्ष्मणजीको सीताजी पुत्रवत् मानती हैं यद्यपि वे सुमित्राजीके पुत्र हैं।

४ पु० रा० कु० (१) 'मायाद्वारा ही ब्रह्म-जीवका विभाग है, जैसे दोनोंके बीचमें यहाँ सीताजी। अथवा, ब्रह्म-जीव-मायाकी उपमा इससे दी कि ब्रह्मकी दृष्टिमें माया नहीं और जीवकी दृष्टिमें माया है, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी आगे हैं, उनकी दृष्टि सीताजीपर नहीं पड़ती और लक्ष्मणजी पीछे हैं इससे उनकी दृष्टि उनके चरणोंपर है। अथवा, ब्रह्म और जीवके बीचमें जो कुछ शोभा दिख रही है वह सब मायाकी ही शोभा है, वैसे ही इन दोनोंके बीचमें सीताजीकी ही छबि देख पड़ती है। (२) ब्रह्म, जीव, माया तीनों अकथनीय हैं, मन और वाणीमें नहीं आते, यह विचार करके फिरसे छबिकी उपमा देते हैं जो मनमें बसती है, मन जहाँ पहुँचता है और वाणीमें जो आ सकती है।

५—गीतावलीमें भी बीचकी छबिपर देखिये और मिलान कीजिये—*'बीच बधू बिधुबदनि बिराजति उपमा कहुँ कोउ है न मानहु रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनायो है मैन॥'* (२) *'किधौं शृंगार सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित-बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मगलोगन्हि सुख दैन॥'* (३।२।२४) *'मानहुँ बारिद बिधु बीच ललित-अति राजति तड़ित निज सहज बिछोही।'* (२।१९) *मुनिबेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं।'* (२।२८)

६ पु० रा० कु०—(१) तीन उपमाएँ तीन विचारसे दी गयीं। तृष्णाकी उत्पत्तिके विचारसे मायाकी उपमा दी, मोहित करनेमें रतिकी और पातिव्रत्यके लिये रोहिणीकी उपमा दी। अथवा (२) पहलेमें ज्ञान, दूसरेमें भक्ति और तीसरेमें कर्मकाण्ड कहा।

७ पाण्डेजी—तीन उपमाएँ इससे कहीं कि संसार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारसे बना है। इनमेंसे अहंकार तीनोंके साथ रहता है। यह न हो तो वे तीनों जड़ हो जावें। पहली उपमा मनकी है, दूसरी बुद्धि और तीसरी चैतन्यकी। आशय यह कि संसार इन्हींसे है। अर्थ यह है कि पहली उपमामें ऐश्वर्य वर्णन किया, दूसरीमें शृङ्गार और तीसरीमें सम्बन्ध—बुध-स्थानमें लक्ष्मणजी, विधुमें रघुनाथजी और रोहिणी-स्थानमें जानकीजी हैं।

बाबा जयरामदास 'दीन' जी—यहाँ *'सोहति'* शब्द देकर ग्रन्थकारने यहाँ बन्धनकारिणी अविद्यामाया और भेदकारी विद्या माया, इन दोनों प्रकृतिरूपी यवनिकाओंसे विलक्षण भगवान्की नित्य आह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीदेवीजीका लक्ष्य कराया है, जिसकी तारतम्यता दिव्य वैकुण्ठकी घटनाको सूचित कर रही है। प्राकृत माया तो जीव ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप बनी हुई है—*'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुण ब्रह्म।'* वह तो 'मोहति' है न कि 'सोहति'। फिर श्रीलखनलालजीके लिये, जिनको यहाँ जीवकी उपमा दी गयी है, श्रीसीताजी ध्येय (सेव्य) हैं और यह संसारी माया हेय (त्याज्य) है। इसलिये भी यहाँ मायासे 'संसारी माया' नहीं समझनी चाहिये। यह उपमा तो परमधामके उस मुख्य अवसरकी है जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्य धामको प्राप्त हो। (श्रीसीताजी जीवोंके लिये सरकारसे किस तरह सिफारिश करती हैं यह बालकाण्ड १८ (७-८) में कुछ विस्तारसे लिखा गया है वहाँ देखिये)। उस समय जो शोभा ब्रह्म और जीवके बीचमें श्रीजीकी होती है वही शोभा यहाँ श्रीरघुनाथजी और श्रीलखनलालजीके बीचमें श्रीसीताजीकी है।'''''यह प्रथम उपमा ऐश्वर्यसूचक है जिसके द्वारा श्रीसरकारके परमधामकी तारतम्यताका लक्ष्य कर यह बतलाया गया है कि ये साक्षात् वैकुण्ठनाथ, लक्ष्मीदेवी और नित्यमुक्त जीव शेषजी हैं। (रामोपासक इन्हें साकेताधीश राम, सीता और लक्ष्मण कहेंगे। मा० सं०।)

दूसरी उपमा सौन्दर्यसूचक है। श्रीरामजीका सौन्दर्य मदन-सदृश और श्रीसीताजीका रतिके समान है। श्रीलक्ष्मणजी वसंतकी भाँति प्रफुल्लित हैं। इसमें सेव्य-सेवक भाव है। मदन-रतिका सेवक वसंत है; वैसे ही श्रीसीतारामजीके सेवक लक्ष्मणजी हैं, सदा प्रफुल्लित चित्तसे सेवामें तत्पर हैं।

तीसरी उपमा माधुर्यसूचक है। श्रीलक्ष्मणजी पुत्रस्थानीय हैं और श्रीसीता-रामजी माता-पिता हैं। पुत्रपर माता-पिताका जैसा स्वाभाविक स्नेह होता है वैसा ही यहाँ श्रीसीतारामजीका लक्ष्मणजीके प्रति भाव है। इस उपमासे पारस्परिक प्रीति सूचित हो रही है।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ *'उभय बीच'''''जैसे'* इति। यह दृष्टान्त केवल शोभाके लिये है। रूपक नहीं है। यहाँ *'माया'* से विद्यामायाका ग्रहण होगा। मानसमें ह्लादिनी मायाका उल्लेख नहीं है। जैसे विद्यामायाके कर्तृत्वसे ही निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है, वैसे ही श्रीरामजीकी शोभा श्रीसीताजीसे ही है। *'सुंदरता कहँ सुंदर करई।'* विद्यामाया जब सृष्टिकी रचना करती है तब अविनाशी चेतन, अमल, सहज, सुखरासी ईश्वर अंश जीव-भावको प्राप्त होता है। श्रीरामजीकी अनुगामिनी श्रीसीताजी मायाके समान हैं, जीवके समान लक्ष्मणजी दोनोंके अनुगामी हैं। और श्रीसीतालक्ष्मणजी दोनों श्रीरामानुगामी हैं यह सूचित किया।

एक श्यामवर्ण और दूसरे गौरवर्ण हैं। पर दोनोंके शरीरोंपर वीर्य, शौर्य, धैर्य आदि पौरुष लक्षण प्रकट हैं। दोनोंके बीचमें अति कोमल, अति सुन्दर और स्त्रियोंके समस्त शुभगुणोंसे सम्पन्न श्रीसीताजी हैं; इससे दोनोंके पौरुष-गुण और सीताजीके स्त्रीगुण विरोध (Contrast) के कारण अधिक प्रलोभनीय और आकर्षक हो गये हैं। इस दृष्टान्तमें मुख्यतः तीनोंके स्वरूपका परस्पर सम्बन्ध जनाया है, और यह भी सूचित किया है कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी कीर्तिकी ख्याति होनेमें श्रीसीताजी ही मूल कारण बनेंगी। यह दृष्टान्त सामान्य मनोहरताका दर्शक है, आगे विशेषतया दो दृष्टान्त देते हैं।

२-*'जनु मधु मदन······'* इति। *'सोह मदन मुनि बेष धरि रति रितुराज समेत।'* (दोहा १३३) में भी मदन और ऋतुराजके बीचमें ही रति है। मदन, ऋतुराज और रति क्रमसे श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी हैं। मदन ऋतुराजकी सहायतासे ही मुनियोंको मोहित करता है, उसका सामर्थ्य वसन्तसे ही बढ़ता है। वसन्त मदन और रति दोनोंका सेवक है। तीनोंकी मिलकर जो मनोहरता, चित्तमोहकता है उसका वर्णन इस उत्प्रेक्षासे किया है। उत्प्रेक्षाका कारण कि ये साक्षात् मदन आदि नहीं हैं। मदनादि सदोष हैं, ये निर्दोष। वैसे ही बुध-रोहिणी आदि भी सदोष हैं।

३-*'जनु बुध बिधु·····'* इति। यह उत्प्रेक्षा सौन्दर्य और तेजके लिये है। इससे जनाया कि श्रीरामजी अधिक तेजस्वी, सुधाभक्तिरसोत्पादक इत्यादि हैं। बुध ग्रह है और चल है, रोहिणी तारका स्थिर है। बुध चन्द्रका पुत्र और रोहिणी चन्द्रकी स्त्री मानी जाती है। रोहिणी नक्षत्रका चन्द्रमा उच्च और अधिक तेजस्वी होता है। बुधका वर्ण पीत है। चन्द्रमामें श्यामता है। रोहिणी गौरवर्णा है।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'उपमाके वर्णनमें कविका प्रयोजन उसके धर्मसे रहता है, शेष बातें आनुषङ्गिक हैं। इस अर्धालीमें श्रीसीताजीकी शोभा कहते हैं। मायाका अर्थ यहाँ 'ज्ञान' (चित्-शक्ति) और 'कृपा' का है, यथा—**'माया दम्भे कृपायां च', 'माया वयुनं ज्ञानम्।'** श्रीजानकीजी कृपामयी एवं चिद्रूपा हैं, यथा—**'कृपारूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥'** (सीतोपनिषद्) तथा **'हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कारया चिता।'** (श्रीराम पू० ता०)। यहाँ नरनाट्यकी माधुर्य-दृष्टिसे उपमा कही गयी है, अन्यथा यह यथार्थ ही है कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलक्ष्मणजी नित्य-शुद्ध जीव और श्रीजानकीजी ब्रह्मकी अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपारूपिणी हैं। ब्रह्मके पीछे कृपाशक्ति और उसके पीछे जीव, तब उस जीवका ब्रह्मके द्वारा उद्धार करानेसे इस मायाकी शोभा है। अलौकिक शोभाके लिये अलौकिक दृष्टान्त दिया। यह दृष्टान्त शान्तरसका है।

वि० त्रि०—*'बहुरि कहउँ·····लसई'* इति। यहाँ रामजीकी उपमा कामसे, सीताजीकी रतिसे और लक्ष्मणजीकी वसन्तसे दी गयी है। उपमा देनेका क्रम यह है कि *'जिमि मधु मदन मध्य रति लसई'* आगे मधु है और पीछे मदन है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि *'आगे राम लखन बनें पाछें। उभय बीच सिय सोहति।'* प्रश्न यह है कि वस्तुस्थितिसे विपरीत उपमाका क्रम क्यों दिया गया। यही नहीं, तीसरी उपमाके क्रममें भी ऐसी ही गड़बड़ी है, यथा—*'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।'* यहाँ भी लक्ष्मण-स्थानीय बुधको पहिले और राम-स्थानीय विधुको पीछे कह रहे हैं।

यहाँपर यह देखना चाहिये कि कवि उस समय कहाँपर हैं? निश्चय जिस रास्तेसे सरकार आ रहे हैं, उसी रास्तेपर हैं। दूरसे ही तीनों सरकारका दर्शन हुआ। पहिले रामजी दिखायी पड़े, तब सीताजी और पीछे लक्ष्मणजी। अतः कविने कहा *'आगे राम लखन बनें पाछें। उभय मध्य सिय सोहति॥'* देखते-देखते तीनों मूर्तियाँ सामने आ गयीं और फिर आगे बढ़ चलीं। अब कवि पहिले लक्ष्मणजीको देखते हैं, उसके बाद सीताजीको और उसके बाद रामजीको। इसलिये कहते हैं *'जनु मधु मदन मध्य रति लसई।'* तीनों मूर्तियाँ समीप हैं। कवि शोभा भलीभाँति देख रहे हैं, इसलिये मधु, रति और मदनसे उपमा दी। धीरे-धीरे मूर्तियाँ बड़ी दूर चली गयीं, पर कविको तो पहिले लक्ष्मणजी बादको सीताजी और उनके भी बाद रामजी दिखायी देते हैं अतः दूरकी वस्तुसे उपमा देते हुए कहते हैं कि *'जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।'*

बाबा जयरामदास 'दीनजी'—तीनों उपमाओंमें क्रमसे सुलभ, सुलभतर और सुलभतमका भाव दिखाया गया है। शेष-शेषि-भावकी निष्ठा ज्ञानादि साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है, सेव्य-सेवक-भावकी निष्ठा उसकी अपेक्षा सुलभतर है और पिता-पुत्रकी निष्ठा तो सबकी अपेक्षा सुलभतम है। क्योंकि सेवकके लिये भी सचेत रहना आवश्यक है, सावधानीसे सेवा करनेसे ही स्वामी प्रसन्न होते हैं। परंतु छोटे बालकके लिये तो अनन्यगति ही पर्याप्त है, उसका पालन-पोषण, योग-क्षेमकी चिन्ता माता-पिता स्वयमेव करते हैं। *'गह*

सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥' इसी सुलभ, सुलभतर और सुलभतमके भावको दिखलानेके लिये ही प्रथम उपमाके पदमें 'सोहति' शब्द आया है, जो नेत्र इन्द्रियका बाह्य विषय है। दूसरीमें *'जस मन बसई'* कहकर मनकी टटोल की गयी है और तीसरीमें *'उपमा कहौं बहुरि जिय जोही'* से यह लक्ष्य कराया गया है कि तीसरी बार भी हृदयमें ढूँढ़कर अर्थात् दिलकी टटोली हुई उपमा दी जा रही है। परंतु निष्ठाओंकी साधना अवस्थामें ही सुलभताके ये भेद रहते हैं; अन्तिम परिणाम तो *'सर्ब भाव भजु कपट तजि'* के द्वारा भगवत्-धाममें उसी अवस्थाकी प्राप्ति है, जिसका निर्देश प्रथम उपमा *'ब्रह्म जीव बिच माया जैसें'* में किया गया है। तात्पर्य कि जब कभी वह जीव उपर्युक्त निष्ठाओंद्वारा मुक्त होकर परधाममें भगवान्‌के द्वारा स्वीकृत होगा तो अम्बाजीके अनुरोधसे ही होगा।

इसी महान् अनुकम्पाकी आनन्दमयी अवस्था और ऐसे अखण्ड नित्य ऐश्वर्यकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये इस चौपाईके शब्दोंको अक्षरशः दुहराकर गोस्वामीजीने बड़े ही महत्त्वका काम किया है। यही *'उभय बीच……'* इस अर्धालीके अरण्यकाण्डमें दुबारा आनेका कारण है।

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥५॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लषन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥६॥
राम लषन सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥७॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोहीं॥८॥

शब्दार्थ—**दाहिन लाएँ**—प्रदक्षिणा करते हुए, बायें ओरसे चलते हुए जिसमें अङ्क अपने दाहिनी ओर पड़े, यथा—*'पंचबटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई।'* **बराएँ**=बचाना, जान-बूझकर अलग करना। **अगोचर**=जिसका अनुभव इन्द्रियोंसे न हो।

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके चरण-चिह्नोंके बीच-बीचमें सीताजी अपना चरण रखती हैं और मार्गमें डरती हुई चलती हैं (कि कहीं स्वामीके चरण-चिह्नोंपर हमारा पैर न पड़ जाय)॥५॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंके चरणोंके चिह्नोंको बचाते हुए श्रीलक्ष्मणजी दक्षिणावर्त चल रहे हैं॥६॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीकी सुन्दर प्रीति वचन-इन्द्रियका विषय नहीं है तब कैसे कही जा सके?॥७॥ पशु-पक्षी भी छबि देखकर मग्न हो जाते हैं (उसमें डूब जाते हैं) राम-बटोही (पथिक) ने उनके भी चित्त चुरा लिये हैं॥८॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु पद रेख……'* इति। स्वामीके चरणोंपर चरण न पड़े यह पतिव्रताके लक्षण हैं। पुनः, चरण-चिह्न मिट जानेसे दूसरोंको उनका दर्शन न होगा। देखिये भरतजी जहाँ-तहाँ चरण-चिह्न देख-देख प्रेममें मग्न हुए हैं। लक्ष्मणजी भी दोनोंके चरण-चिह्नोंको देखते जा रहे हैं। सीता-लक्ष्मण दोनोंकी धर्मभीरुता यहाँ व्यञ्जित है। मिलान कीजिये—*'रीति चलिबेकी चाहि प्रीति पहिचानि कै। आपनी आपनी कहैं प्रेम परबस अहैं मंजु मृदु बचन सनेह सुधा सानि कै॥ साँवरे कुँअर के चरन के बराइ चिन्ह बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै। जुगल कमल पद अंक जोगवत जात गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै। उनकी कहनि नीकी रहनि लखन सी की तीन की गहनि जे पथिक उर आनि कै। लोचन सजल तन पुलक मगन मन होत भूरि भाग जस तुलसी बखानि कै॥'* (गी० २। ३१)।

टिप्पणी—२ *'प्रीति सुहाई। बचन अगोचर'*—अर्थात् देखकर मन-ही-मन भाती है, कही नहीं जा सकती। मिलान कीजिये—*'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥'* (१।२१७।३)

टिप्पणी—३ (क) *'खग मृग मगन……'* कहकर गीतावलीके—*'चितवत चले जात संग मधुप मृग बिहंग। बरनौं किमि तिन की दसहि निगम अगम प्रेम रसहि तुलसी मन बसन रँगे रुचिर रूप रंग॥'* (२। १७) तथा *'अवनि कुरंग बिहंग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न टारत। मगन न डरत निरखि कर कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत॥ अवलोकत मग लोग चहूँ दिसि मनहु चकोर चंद्रमहि घेरत। ते जन भूरि भाग भूतल*

पर तुलसी राम पथिक पद जे रत॥' (गी० २।१४) इन उद्धरणोंके भाव सूचित कर दिये हैं। (ख) ***'राम बटोही'*** से सूचित किया कि चले ही जा रहे हैं। पुनः बटोहीरूप शृङ्गाररहित है तो भी ऐसा चित्तको चुराये लेता है कि पशु-पक्षी भी शोभा देख जड़वत् खड़े ही रह जाते हैं, टाले नहीं टलते।

पाण्डेजी—***'बटोही'*** शब्द हलका है। इसमें शङ्का होती है कि अपने उपास्यके लिये यह पद कैसे दिया? इसका समाधान कई प्रकारसे करते हैं। १—पक्षी सब इनकी छबिको देख मोहित होते हैं और ये अपनी बाट चलनेसे प्रयोजन रख उनकी ओर नहीं देखते। पक्षियोंका मोह इतना बढ़ गया कि गोसाईंजी उनपर ममता करके रघुनाथजीको बटोही कहते हैं (इतना मोहाधिक्य कहना वास्तवमें छबिकी प्रशंसा है)। २—बटोही होकर जब इनकी छबि है तो शृङ्गारके समय कितनी अधिक न होगी। ३—बटोही चोर कहनेका भाव कि जो ग्राम-नगर आदिका चोर हो तो उसके हाथमें गयी हुई वस्तुका ठिकाना भी लग जाता और जो रमता बटोही चोर है, उसकी ली हुई वस्तु नहीं मिलती। ये उनके चित्तके ऐसे ही चोर हैं। ४—बटोही चोर वह हैं जो धतूरा आदि देकर अचेत करके चुरा लेते हैं; यह धतूरा उनकी छबि है। ये छबिरूपी धतूरा पान कराके सबके चित्तरूपी धनको चुरा लेते हैं। ५—खग आदि रामबटोहीकी छबिको देखकर चित्तमें चुराकर मग्न हो गये। मिलान कीजिये—***'सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै। अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख-पंच धरे रतिनायक हैं॥'*** (क० २। २७)

दो०—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भवमगु अगमु अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ॥ १२३॥
अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहुँ लषनु सिय रामु बटाऊ॥ १॥
रामधाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥ २॥

अर्थ—जिन-जिन लोगोंने प्यारे पथिक श्रीसीतासहित दोनों भाइयोंका दर्शन किया उन्होंने बिना परिश्रमके आनन्दसे ही कठिन भवमार्ग (संसारमें आवागमन) का अतिक्रमण कर लिया। अर्थात् उनको पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ेगा, वे भवपार हो गये॥ १२३॥ आज भी जिसके हृदयमें स्वप्नमें भी कभी श्रीलक्ष्मण-सीताराम बटोही (पथिक) बसें वही रामधामके उस मार्गको पा जावेंगे कि जिस मार्गको कोई-कोई मुनि पाते हैं॥ १-२॥

नोट—***'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय·····'*** इति। (क) पथिक किसीको प्यारे नहीं होते, क्योंकि आज क्षणभरका संग हुआ थोड़ी देरमें न जाने कहाँ गये; पर ये दोनों प्यारे हैं, अर्थात् इन्हें जो देख भर लेता है वह जन्मभर नहीं भूलता। (पां०)। वा, (ख) ***'पथिक प्रिय'***=इनको केवल पंथ प्रिय है जिसके लिये अवधका ऐश्वर्य छोड़ दिया। (पां०)। वा०, (ग) जो ***'पथिक प्रिय'*** हैं अर्थात् जिनको भवकी प्रीति बनी थी, जिन्हें संसारमें ममत्व था, इस आवागमनसे निर्वेद नहीं उपजा था इनके दर्शनसे वे भी मुक्त हे गये। (पां०)।

टिप्पणी—१(क) यहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें जीवोंका भवसे छुटकारा बताया। ***'जिन्ह देखे'*** अर्थात् भूतकालमें, त्रेतासे साक्षात् दर्शन किये। ***'अजहुँ'*** से वर्तमानकाल (कलियुगमें भी) और ***'काऊ'*** से भविष्यकाल सूचित किया। (ख) भवमग अगम है; क्योंकि ८४ लक्ष योनियाँ हैं जिनमें भ्रमना पड़ता है, न जाने कबतक भ्रमना पड़े। यथा—***'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'*** (७। ४४। ४-५)। ऐसा भवमार्ग अनायास कट जाता है। ***'बिनु श्रम'*** अर्थात् योग-यज्ञ-तप-जप आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं। (ग)—***'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ'*** अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं, इसका नियम नहीं; सोतेमें भी कभी ऐसा

दर्शन हो जाय तो काफी है। *'जासु'* से जनाया कि वर्ण, आश्रम, जाति, ऊँच-नीच; किसीका नियम नहीं, कोई भी हो। *'काऊ'* से जनाया कि कालका नियम नहीं है, कभी भी। *'बटाऊ'* से जनाया कि वही बटोहीरूप, रास्तेमें मुनिवेषसे चलते हुए समयका ध्यान जिसमें भूषण-वस्त्र-शृङ्गार-रहित थे, उसी रूपके भी ध्यानसे रामधाम-पथ मिल जायगा, यह जरूरत नहीं कि शृङ्गारयुक्त स्वरूपका ही ध्यान हो। पुनः, *'बटाऊ'* पदसे जनाया कि देशका भी नियम नहीं। अर्थात् इससे बिना परिश्रम रामधामपद मिल जायगा, इसमें देश, काल और वर्ष किसीका भी नियम नहीं। यहाँ सपनेहुँ, बसहुँ और बटाऊ इन तीनोंका घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे ये शब्द दिये गये। स्वप्न सोतेमें होते हैं, सोनेके लिये रात्रि बनायी गयी है और बटोही मार्ग चलनेवाले रातको अवश्य कहीं-न-कहीं वास करते हैं, अतएव *'बसहुँ'* के साथ *'बटाऊ'* और *'सपनेहु'* शब्द सार्थक हैं।

टिप्पणी २—*'जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई'* इति।—कोई मुनि जैसे नारद-सनकादि। ज्ञान, कर्म, उपासना तीन काण्ड वेदमें हैं। इनमेंसे ज्ञानी सायुज्य, कर्मकाण्डी सालोक्य और उपासक सामीप्य मुक्ति पाते हैं।

रा० प्र०—यह कविकी उक्ति है। रामधामपथ अर्थात् प्रेमाभक्ति वा प्रेम और भक्ति। पुनः, रामधाम अर्थात् साकेतलोक।

☞ नोट—यह इस प्रसंगकी फलश्रुति कही।

तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी॥ ३॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई॥ ४॥

अर्थ—रघुबीर श्रीरामजीने श्रीसीताजीको थकी जाना। तब सन्निकट ही बरगदका पेड़ और ठंढा जल देखकर, वहाँ कन्दमूल-फल खाकर (रात्रिमें) निवास करके प्रातःकाल स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी चले॥ ३-४॥

पु० रा० कु०—'रघुवीर' का भाव कि ये वीर हैं, इनको थकावट कहाँ? ये सीताजीको थकी जानकर रुक गये। चलनेके सम्बन्धसे रघुराई कहा।

नोट—*'देखि निकट बटु'''''* इति। सम्भव है कि यह वही श्याम वट हो जिसकी चर्चा भरद्वाजजीने श्रीरामजीसे की थी और कहा था कि श्रीसीताजी उस वृक्षको प्रणाम करें और आशीर्वाद माँगे और आपलोग वहाँ चाहें तो ठहर जाँय—'**तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम्। समासाद्य च ते वृक्षं वसेद्वातिक्रमेद् वा॥**' (वाल्मी० २। ५५। ७) यहाँसे प्रातःकाल ही वाल्मीकिजीके आश्रमको पधारे।

(मुख्य 'वाल्मीकि-मिलन' प्रकरण)

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकि आश्रम प्रभु आये॥ ५॥
रामु दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि काननु जलु पावन॥ ६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ ७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ ८॥

अर्थ—सुन्दर वन, तालाब, पर्वत देखते हुए प्रभु वाल्मीकिजीके आश्रमपर आये॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि—मुनिका निवास-स्थान सुन्दर है, वहाँ पर्वत और वन सुन्दर हैं और जल पवित्र है॥ ६॥ तालाबोंमें कमल और वनमें वृक्ष फूले हुए हैं, सुन्दर भौंरे मकरन्दरसमें मस्त भूले हुए सुन्दर गुंजार कर रहे हैं॥ ७॥ पक्षी-पशु बहुत हैं जो बड़ा कोलाहल कर रहे हैं और वैरसे बिलकुल रहित होकर आनन्दमनसे विचर रहे हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) *'देखत बन सर सैल सुहाये।'''''* इति।—इससे जनाया कि महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रमके पास दूरतक सुन्दर वन, तालाब और पर्वत हैं और जहाँ उनका आश्रम है वहाँ भी सुन्दर पवित्र जलाशय, वन और पर्वत हैं। शैल-सर-विपिनके विभाग कहकर दिखाया कि तपस्याके लिये जो-जो सामग्री

चाहिये वह सब यहाँ है। भजन और तपके लिये घोर निर्जन वन, भोजनके लिये फल-फूल, पूजाके लिये फूल-पत्र और स्नान-पानके लिये स्वच्छ पवित्र जल, इन सबका सुपास था; इत्यादि। विशेष *'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥'* (१। १२५। ३) में देखिये। (ख) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामजी श्रीजानकीजीको ये सब दिखाते गये हैं। इस तरह कि देखो, वसन्त-ऋतुमें पलाशने अपने पुष्पोंकी माला धारण कर रखी है......। देखो, ये बहेड़ेके वृक्ष हैं, ये बेलके हैं जो फल-फूलसे लदे हुए हैं। देखो, मधु-मक्षिकाओंके छत्ते कैसे बड़े-बड़े हैं, ये प्रत्येक वृक्षपर लटक रहे हैं। वनभूमि पुष्पोंसे भरी हुई बड़ी रमणीय है। पक्षिसमूह बोल रहे हैं। पर्वतके शिखर बड़े-बड़े हैं। यह पर्वत बड़ा ही मनोहर है, इसमें अनेक वृक्ष और लताएँ हैं, फल-मूल भी बहुत हैं। यहाँ हमलोगोंको आहार सुगमतासे मिलेगा।' (२। ५६ श्लोक ६-१५)।—यह सब *'देखत बन'*...' से जना दिया (ग) *'बालमीकि आश्रम प्रभु आए'* इति। वाल्मीकिजी ज्ञानी मुनि हैं; इससे यहाँ 'प्रभु' का आना कहा, वे इनका स्वरूप जानते हैं, अज्ञानीकी दृष्टिमें 'नर' हैं, ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रभु। (पु० रा० कु०) पुनः सर्वज्ञ होते हुए भी माधुर्यमें मुनिसे स्थान पूछते जा रहे हैं यह समझकर 'प्रभु' प्रथम ही कह दिया।

नोट—२ *'मुनिबास सुहावन'*—१। १२५। २ देखिये। *'सरनि सरोज'*—यहाँ सरोज शब्द देकर जनाया कि पूर्व जो *'देखत बन सर सैल सुहाये'* में सर कहे थे उनमें कमल न थे, वैशाखमासमें आश्रममण्डलके सरोंमें कमल फूले हैं यह मुनिकी विशेषता है। (प० प० प्र०)। *'सुंदर गिरि'*...' दोहा तक *'सुहावन मुनिबास'* की ही व्याख्या है। पर्वतमें झरने आदिका होना उसकी सुहावनता है। वनकी शोभा फूल-फल-लताओंसे सम्पन्न होनेमें है, पवित्र जलसे सरकी शोभा है। *'सरनि सरोज'*......' आदिसे आश्रमको परम रमणीय जनाया।

नोट—३ *'खग मृग बिपुल'*....' इति। (क) *'खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं'* कहकर वनको सफल कहा। जिस वनमें फलवाले वृक्ष नहीं रहते, उसमें खग-मृग भी बसेरा नहीं करते, वह झन्झन् किया करता है। इस वनमें तो सफल वृक्षोंकी बहुतायत है, इसलिये खग-मृग आनन्दसे कोलाहल कर रहे हैं। *'बिरहित बैर मुदित मन चरहीं'* से भगवान् वाल्मीकिकी अहिंसा-प्रतिष्ठा कही, यथा—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** (यो० सू०) जिसमें अहिंसा प्रतिष्ठित होता है, उसके सान्निध्यमें जीव वैर त्याग करते हैं। कुछ खगमृगोंमें जातिगत वैर होता है, जैसे काक और उलूकमें तथा महिष और अश्वमें, सो इन सबोंने भी वैरका परित्याग किया। (वि० त्रि०) (ख) 'हिंसा' के मुख्य तीन प्रकार हैं—कृता, कारिता, अनुमोदिता। इनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं—लोभजनित, क्रोधजनित और धर्मबुद्धिजनित (शास्त्रीय हिंसा)। इनमेंसे जहाँ एक प्रकारकी भी हिंसा नहीं है वहीं सहज वैरयुक्त जीव भी *'बिरहित बैर मुदित बन चरहीं।'* (प० प० प्र०) *'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥'* (१। ६६। २) यह तो जगदम्बा श्रीपार्वतीजीका प्रभाव था। श्रीरामराज्यमें भी *'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई॥'* (७। २३। २)। पर यह श्रीसीता-रामजीका प्रभाव था। मुनियोंमेंसे केवल महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रममें यह पाया जाता है; यह मुनिके तप और भजनका प्रताप है।

दो०—सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर आगमनु मुनि आगे आएउ लेन॥ १२४॥

अर्थ—पवित्र और सुन्दर आश्रम देखकर अरुण कमलके समान नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीका आगमन सुनकर मुनि उन्हें लेनेके लिये अर्थात् स्वागतमें आगे आये॥ १२४॥

नोट—१ *'सुचि सुंदर'* इति। *'सुंदर गिरि काननु जल पावन'* से 'शुचि' कहा। *'सरनि सरोज बिपिन बन फूले'* इत्यादिसे 'सुन्दर' कहा। ऐसा सुन्दर आश्रम है कि राजीवनयनके नयनोंको भी आनन्द मिला। (वि० त्रि०) पुनः, इन्द्रियाँ स्वभावसे ही बहिर्मुख, विषयसौन्दर्यप्रिय हैं। अतः यदि सौन्दर्यके साथ शुचिता

न होगी तो मानस रोगोंकी वृद्धि ही होगी। अतः शुचि और सुन्दर दोनों कहा। पर यह दुर्लभ है जैसे विद्या और विनय, तपश्चर्या और अक्रोधता, केवल ज्ञान और निरहंकारता, प्रभुता और मदहीनता, इत्यादि। अपने परम भक्तका प्रभाव देखकर हर्ष (आनन्द) हुआ। (प० प० प्र०) पुनः कमलवत् बड़े और प्रफुल्लित नेत्र हैं जो बड़े दूरदर्शी हैं, अतः *'राजिवनैन'* कहा। (पु० रा० कु०) आश्रम सुहावन और पवित्र है, अतएव हर्ष हुआ। आश्रम पवित्र और सुन्दर होता है तो वहाँ सभीका मन लगता है और चित्त प्रसन्न होता है, यथा—*'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥'* (१। ४४। ६) *'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥'* (१। १२५। २) *'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।'* (१। २०६। २) *'देखि परम पावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥'* (७। ६४। २) विशेष बा० ४४ (६) में देखिये।

नोट—२ (क) *'सुनि रघुबर आगमनु'*-शिष्यों या कोलकिरातों आदिसे सुना होगा। मुनि त्रिकालज्ञ हैं। यह जानते हैं कि श्रीरामजी यहाँ अब आनेको हैं अतः किसी शिष्य आदिको सूचना देनेके लिये पहलेसे ही नियुक्त कर दिया होगा यह सम्भव है। *'रघुबर'* शब्दसे प्रथम ही सूचित कर दिया कि मुनि इनसे माधुर्यभावसे ही व्यवहार करेंगे। (प० प० प्र०) भरद्वाजके मिलनमें *'सुनि'* नहीं है। वि० त्रि० जी कहते हैं कि यहाँ घोर वन है। कोई आता-जाता नहीं। यहाँ किसीका आना, विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीका आना घटनाविशेष है, अतः मुनिजीको पहिले ही समाचार मिल गये। भरद्वाजजीका आश्रम प्रयागराजमें था, जहाँ लोग आया-जाया करते हैं, अतः किसीका आना कोई नयी बात नहीं थी। अतः उन्हें रामजीके आनेका समाचार नहीं मिला, इसलिये ये स्वागतके लिये आगे लेने नहीं आये। (वि० त्रि०) (ख)—मुनिने इनकी अगवानी की इससे रघुनाथजीपर उनका अपार प्रेम प्रकट होता है। इसी तरह और भी बड़े-बड़े महात्मा अत्रि आदि लेने गये थे, जिनको इनके आगमनकी खबर मिली, यथा—*'अत्रिके आश्रम जब प्रभु गएऊ। सुनत महामुनि हरषित भएऊ॥ पुलकित गात अत्रि उठि धाए।'*, *'प्रभु आगमनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।'''निज आश्रम प्रभु आनि करि॥'* (३। १०) (सुतीक्ष्णजी) और *'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥'* (३। १२। ९) (पं० रा० कु०) पुनः अगवानीका कारण यह है कि *'मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाए।'* यहाँ अतिथिसत्कारकी रीति बतायी। (प० प० प्र०)

मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबादु बिप्रबर दीन्हा॥ १॥
देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमानु आश्रमहिं आने॥ २॥
मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाए। कंद मूल फल मधुर मँगाए॥ ३॥
सिय सौमित्रि राम फल खाए। तब मुनि* आश्रम दिये सुहाए॥ ४॥

शब्दार्थ—'अतिथि'=**'न विद्यते तिथिः यस्य स अतिथिः'**=जो अज्ञात कभी आ जाय। वा, **'अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठति'**=जो चलता रहे एक स्थानपर जमकर न रहे। (वि० टी०)=मेहमान।

अर्थ—मुनिको श्रीरामचन्द्रजीने दण्डवत् किया; विप्रश्रेष्ठ वाल्मीकिजीने आशीर्वाद दिया॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीकी छबि देखकर उनके नेत्र शीतल हुए। आदर-सत्कार करके (वे उन्हें) आश्रममें लाये॥ २॥ मुनिश्रेष्ठने प्राणप्रिय अतिथि (पाहुने) पाये। मीठे कन्द-मूलफल मँगाये॥ ३॥ श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और श्रीरामजीने फल खाये। तब मुनिने सुन्दर आसन दिये॥ ४॥

नोट—१ *'मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा'* इति। ये मुनि हैं, अतः धर्मस्थापन, हेतु इनको प्रणाम करना कहा, यद्यपि ये प्रभुको ब्रह्म जानते हैं। रामजी प्रधान हैं इससे यहाँ बराबर केवल इन्हींका नाम देते आये हैं, यथा—*'राम दीख मुनिबास''''*, *'सुनि रघुबर आगमन'*। तथा यहाँ *'मुनि कहँ राम''''* कहकर जनाया

* आश्रम—राजापुर, रा० प०; पं०, गी० प्रे०। आसन-प्रायः अन्य सभीमें।

कि सभीने प्रणाम किया, केवल प्रधानका नाम दिया गया। दण्डवत् अर्थात् साष्टाङ्ग प्रणाम। पुनः, (ख) इस दण्डवत् आदिमें वात्सल्यका माधुर्य ही है। मुनिश्रेष्ठने प्रणाम आदि कुछ नहीं किया; प्रभु, नाथ आदि सम्बोधन भी नहीं किया। भगवान् भी इस वात्सल्यभावको पुष्ट करते हुए 'मुनिनाथ, मुनिराज, प्रभु' इत्यादि शब्दोंसे उनका आदर करते हैं। (प० प० प्र०)

नोट—२-*'आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा'।* इति। *'बिप्रबर'* से जनाया कि विप्रोंमें जो गुण होने चाहिये जैसे कि अत्यन्त कृपा, अरोषता, धर्ममें अचलता, होम, यज्ञ, तप, विषयरससे रूखे इत्यादि वे सब इनमें परमोच्च कोटिके थे। यथा—*'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी', 'तजिय बिप्रबर रोष', 'धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई', 'करिहहि बिप्र होम मख सेवा', 'तपबल बिप्र सदा बरिआरा', सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय लीना॥'* शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये नवों गुण वाल्मीकिजीमें 'वर' थे, अतः विप्रवर कहा। (प० प० प्र०) पुनः प्रचेतस् ऋषि वा ब्रह्माके दसवें पुत्र हैं इससे, वा भृगुवंशी होनेसे 'विप्रवर' कहा।

नोट—३—*'देखि राम छबि नयन जुड़ाने।'.....'* इति। (क) भाव कि अभीतक संतप्त थे, अब शीतल हुए। पुरुषोत्तम रामकुमारजी कहते हैं कि 'अभीतक निर्गुण स्वरूपका ध्यान करते थे अथवा श्रुतियोंको अवलोकन किये मार्ग देखते-देखते नेत्र संतप्त थे, अब उस रूपको देखा तब नेत्र शीतल हुए।' जान पड़ता है कि इनको दर्शन-लालसा बहुत थी, इसीसे नेत्र संतप्त थे; यह बात बारंबार निहारनेसे प्रकट होती है—*'देखि राम छबि'.....'* पुनः, *'मंगल मूरति नयन निहारी।'* इसीसे नेत्रोंका शीतल होना कहा। (ख) इससे प्रतीत होता है कि ये *'लोचन चातक जिन्ह करि राखें। रहहिं दरस जलधर अभिलाषें॥'.....'रूपबिंदु जल होहिं सुखारे'* इस दूसरे प्रकारके भक्त हैं। रामदर्शनसे जहाँ-जहाँ आनन्दकी प्राप्ति हुई है वहाँ-वहाँ 'राम' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। श्रीभरद्वाज, अत्रि, शरभङ्ग आदिके मिलन-प्रसङ्ग देखिये। (प० प० प्र०) (ग) *'करि सनमान आश्रमहि आने'*—सम्मान किस भावसे किया यह आगेके *'अतिथि प्रानप्रिय'* से सूचित किया है। अन्यत्र जहाँ वात्सल्य या माधुर्यभावसे मिलन है वहाँ हृदय लगाना, कुशल प्रश्न करना, आशीर्वाद देना यह क्रम पाया जाता है, पर यहाँ हृदयसे लगाना और कुशल-प्रश्न नहीं है। इससे अनुमान होता है कि रूपविन्दुजल-पान करनेमें मुनि देहभान भूल गये। शरभंग-मिलन-प्रसंगमें कुशल-प्रश्नादि तथा कन्दमूलफलादिका देना इत्यादि कोई भी लौकिक व्यवहार नहीं हुए हैं। प्रेममें नेम-लोकव्यवहार नहीं रहता। (प० प० प्र०)

नोट—४ *'अतिथि प्रानप्रिय पाए'*—भाव कि ये तो प्राणिमात्रको प्राणप्रिय हैं पर आज पाहुने होकर आये हैं। विशेष भाव बालकाण्ड *'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारिके'* दोहा ३२ (८) में देखिये।

नोट—५ *'कंद मूल फल मधुर मँगाए।'.....'* इति। (क) कोई-कोई व्यास अर्थ करते हैं कि श्रीरामजीने केवल फल खाये, कन्दमूल नहीं; पर इस अर्थसे मुनिका अनादर सूचित होगा। ऐसा अर्थ करके वे लोग दिखाते हैं कि श्रीवाल्मीकिजीमें श्रीरामजीका प्रेम भरद्वाज आदिसे कम था। पर यह मत उचित नहीं है। फल-मूलादिका मँगाना तो कहा, पर उनका अर्पण करना न लिखा। [जैसा अन्यत्र लिखा है—*'कंद मूल फल अंकुर नीके। दिए आनि मुनि मनहु अमी के॥ सीय लषन जन सहित सुहाए। अति रुचि राम मूल फल खाए॥'* (१०७। २-३) *'दिए मूल फल प्रभु मन भाए।'* (३। ३। ८) (अत्रिजी), *'कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।'* (३। ३४) दोहा (१०७(३) में 'मूल-फल' में भी देखिये।] मँगाना कहकर केवल *'फल खाए'* लिखनेसे पाया जाता है कि वाल्मीकिजीके आश्रममें पहुँचनेपर मुनिके निहारनेकी बात लिखते हुए कवि स्वयं भी उस दशामें मग्न हो गये और *'दिए'* लिखना भूल गये (अन्तमें जो खाया वही लिख दिया)। (प० प० प्र०)

नोट—६ *'तब मुनि आसन दिए सुहाए।'.....'* इति। किसी-किसीने चरणोंका क्रम यहाँ बदल दिया है। सम्भवतः इस विचारसे कि आसन पहिले देकर तब भोजन कराना चाहिये, न कि भोजनके पीछे आसन। ☞ यहाँ कन्दमूलफल-भोजनके पश्चात् आसन देना पाया जाता है और भरद्वाजजीके आश्रमपर

प्रथम आसनोपचार है तब भोजन है। इसके कारण कई हो सकते हैं—(क) वाल्मीकि मुनिका वात्सल्यभाव है। ये सीताजीको अपनी पुत्री मानते हैं। वात्सल्यके कारण पहले खिलानेकी ही चाह रहती है। (ख) भारी आनन्दमें मग्न हैं, अतएव आसन देना भूल गये थे। (ग) भरद्वाजजीके यहाँ इनका अर्घ्यपाद्यादि पूजन हुआ, अतः वहाँ षोडशोपचार रीतिका निर्वाह है और यहाँ 'पूजा' शब्द नहीं है; क्योंकि वात्सल्यभाव है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि इस प्रसंगभरमें मुनिवर वाल्मीकिजीने 'रघुबर' और 'राम' छोड़ 'प्रभु' नाथ वा पर्यायवाची शब्द नहीं कहे। जनकमहाराजने भी इनकी स्तुति करते हुए भी इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया था (बा० ३४१) (प्र० सं०) ☞ प्रथम संस्करणमें हमने 'आसन' पाठ दिया था जो अयोध्याके महात्माओं तथा पं० रामकुमारजीकी पोथियोंका पाठ है। राजापुरका पाठ दो प्रतियोंमें और भी है। अतः प्राचीनतम समझकर उसीको इस संस्करणमें दिया है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीने 'आसन' पाठके भावका समर्थन इस तरह किया है कि मुनिजीके यहाँ पहुँचते-पहुँचते सरकारको दोपहर हो गया। मुनिजी भी बलिवैश्वदेव करके अतिथिकी प्रतीक्षा कर रहे थे, अतः कहते हैं *'मुनिवर अतिथि प्रानप्रिय पाए।'* सरकारके आते ही पीढ़ेपर बिठाकर भोजन कराया। भोजनके लिये पीढ़ा ही प्रशस्त आसन है। सरकारको भोजन करनेके बाद सुन्दर आसन बैठनेके लिये दिया।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि—'यहाँ' 'आश्रम' शब्दका अर्थ स्थान है। आगे चलकर वाल्मीकिजीने स्थानके ही अर्थमें 'आश्रम' शब्दका प्रयोग किया है—*'कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥'* 'आसन' शब्द भी ठहरने या विश्राम करनेके स्थानके अर्थमें ही यहाँ बैठ सकता है, 'बैठने' के अर्थमें नहीं; क्योंकि भोजन करानेके पश्चात् बैठनेको आसन देना स्पष्ट ही अप्रासंगिक है। बैठनेके आसनका तो भोजन करानेमें आप ही अध्याहार हो गया है। 'आसन' शब्द विश्राम करने या ठहरनेके अर्थमें लोकप्रचलित भी है (सबके आसन लग गये=सब ठहर गये)। किंतु इस अर्थकी ओर ध्यान न देकर कुछ टीकाकारोंने चौपाइयोंका क्रम ही बदल दिया है। उन्होंने 'आसन' का अर्थ बैठनेका आसन ही समझा है, अतएव उनके मनमें शंका हुई कि फल खानेके बाद मुनिने श्रीराम आदिको बैठनेके लिये आसन कैसे दिये। चौपाईका भाव यह समझना चाहिये कि पहले मुनिने फल मँगवाये। भगवान्ने सीताजी और लक्ष्मणजीसहित फलोंका भोग लगाया (अवश्य ही बैठकर)। तब मुनिनें उन्हें थके हुए जानकर सुन्दर-सुन्दर स्थान आराम करनेके लिये बता दिये। राजपूतानेमें 'आश्रम' या 'आसराम' शब्द मकानके अंदरकी कोठरियोंके लिये भी बरता जाता है। यह भी हो सकता है कि मुनिने उनको अलग-अलग सुन्दर कुटियाएँ आरामके लिये बता दी हों। अतः यहाँपर *'आश्रम'* यह प्राचीन पाठ ही उपयुक्त जान पड़ता है।'

प० प० प्र० स्वामीजी भी 'आश्रम' पाठको उत्तम समझते हैं। वे कहते हैं कि उनको विश्राम करनेके लिये तथा उनसे एकान्तमें बातें करनेके विचारसे दो कुटियाँ दीं। *'दिए'* बहुवचन है। यहाँ दो कुटियाँ देकर जनाया कि आगे आपको कुटियाँ बनाना आवश्यक है—*'एक ललित लघु एक बिसाला'।* (प० प० प्र०) मेरी समझमें *'आश्रम'* पाठमें एक शंका यह अवश्य उपस्थित होती है कि विश्रामके लिये कुटियाँ अलग दीं तो उनको विश्राम करने देना पाया नहीं जाता। मुनि उनके साथ ही लगे हैं, मङ्गलमूर्तिका दर्शन कर रहे हैं, आश्रममें मुनिके सामने लेट कब सकते थे? आश्रम मिलते ही तो आगे कहते हैं *'तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन'''*।

बालमीकि मन आनंदु भारी। मंगल मूरति नयन निहारी॥ ५॥
तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन सुखदाई॥ ६॥
तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरें हाथा॥ ७॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥ ८॥

अर्थ—मङ्गलमूर्तिको नेत्रोंसे देखकर वाल्मीकिजीके मनमें भारी आनन्द हुआ॥ ५॥ तब श्रीरामचन्द्रजी कमल-सरीखे हाथोंको जोड़कर कानोंको सुख देनेवाले वचन बोले॥ ६॥ हे मुनिनाथ! आप त्रिकालज्ञ हैं (भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंकी बातें आपको देख पड़ती हैं), सारा जगत् आपको अपनी हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है॥ ७॥ ऐसा कहकर प्रभुने सब कथा सुनायी; जिस-जिस तरह रानी (कैकेयी) ने वनवास-दिया॥ ८॥

नोट—१ *'बालमीकि मन आनंदु भारी।'''''* इति। भाव कि जिस ब्रह्मानन्दसुखका अनुभव किया करते थे, जिसमें मग्न रहा करते थे उससे अधिक आनन्द प्राप्त हो रहा है। क्योंकि जिसका पहले अनुभव वा ध्यान किया करते थे वह अब साक्षात् सामने है। अथवा, पहले ब्रह्मानन्द था अब ब्रह्मानन्द-राशि मिल गयी, जैसा भरद्वाजजीके प्रसंगमें कहा है—*'मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥'* (१०६। ८) और वाल्मीकिजी उनके गुरु हैं; अतएव वैसा ही यहाँ समझिये। पुनः जैसा जनकजी महाराजने अपने विषयमें कहा है वही *'आनंदु भारी'* और उसका कारण यहाँ भी है—*'सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥'''इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥'* (१। २१६) क्योंकि इनको भी भारी आनन्द इस मङ्गलमूर्तिके दर्शनोंसे ही हो रहा है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि श्रीजनक महाराज अभी जानते नहीं हैं कि ये ब्रह्म हैं और वाल्मीकिजी जानते हैं।

नोट—२ (क) यहाँ *'मन आनंदु भारी'* कार्यका उल्लेख प्रथम करके तब उसके कारण *'मंगल मूरति नयन निहारी'* का उल्लेख करके जनाया कि भारी आनन्दका यह एक ही कारण नहीं है, किंतु और भी कारण हैं जो पिछले चरणोंमें लिख आये। इसीसे *'बालमीकि मन आनंदु भारी'* को दोनोंके बीचमें रखा। (प० प० प्र०) (ख) *'भारी'* का भाव कि *'देखि राम छबि नयन जुड़ाने'* तब आनन्द हुआ और अब *'निहारा'* तब भारी आनन्द हुआ। फलाहार स्वीकार करने, स्वतन्त्र आश्रममें पधारनेसे आनन्दकी वृद्धि होती गयी''''। (प० प० प्र०) (ग) *'मंगल मूरति', यथा—'मंगल भवन', 'मूरति मंगल मोद निधान की',* 'मङ्गलायतनं हरिः।' *'देखि राम मुनि नयन जुड़ाने'* से उपक्रम और *'आनंदु भारी'* में उपसंहार करके जनाया कि यहाँ आतिथ्य-सत्कारका समारम्भ पूरा हुआ, अब *'तब'* से अन्य प्रसङ्ग चलेगा। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'बोले बचन श्रवन सुखदाई'* इति। प्रथम नेत्रोंको सुख दिया, फिर मनको, अब तीसरी इन्द्रिय श्रवणको सुख देनेके लिये वचन बोले। वे वचन आगे दिये हैं। हाथ जोड़कर बोले, क्योंकि ऐश्वर्यको अपनी ओरसे अति गुप्त रखते हैं, दूसरे मुनिका वात्सल्य भाव है, तीसरे हाथ जोड़कर भजनका प्रभाव दिखाया कि हम भक्तोंके कैसे अधीन रहते हैं, यथा—*'जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥'* (१। २२५) [पुनः, हाथ जोड़नेसे सूचित हुआ कि कुछ विनय करेंगे। (प० प० प्र०) इससे बहुत नम्रता सूचित की। श्रवण-सुखद क्योंकि प्रशंसा सबको प्यारी होती है। (रा० प्र०) पर इस भावसे मुनिपर लाञ्छन लगेगा कि वे संत नहीं हैं। प्रशंसाका प्रिय लगना उसका विरोधी है। संत स्वभाव है कि *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।'* (प० प० प्र०)]

टिप्पणी-२—*'तुम्ह त्रिकालदरसी''''हाथा'* इति। (क) *बदर*=बेर, यहाँ झाड़ीका बेर समझो क्योंकि पृथ्वी उसीके समान गोल है। त्रिकालज्ञ कहकर अब बताते हैं कि किस प्रकार संसारभरका सब हाल आपको मालूम रहता है जैसे हथेलीपर रखा हुआ बेर निरावरण देख पड़ता है वैसे ही तीनों कालकी बातें आप निरावरण देखते हैं। यह मुनिका ऐश्वर्य कहकर जनाया कि आप सब जानते ही हैं तथापि लोक-व्यवहारके अनुसार भक्तिवश आपसे कहता हूँ—*'तदपि भगति बस बिनवउँ स्वामी।'* यह कहकर तब कथा आदिसे अन्ततक कह सुनायी।

[(ख) *'जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥'* जो बालकाण्ड दो० ३०(७) में कहा गया है उसमें आमलककी उपमा निज ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञानके लिये है जो सदा एकरस, निर्दोष, भवरोग-नाशक इत्यादि है। श्रीरामजी तो आत्मज्ञानके विषयमें कुछ पूछना चाहते नहीं, वे तो विश्वके सम्बन्धमें पूछना चाहते हैं और विश्व बदरके समान सुन्दर होनेपर भी दोषसे भरा है। अतः

विश्वके ज्ञानके लिये बदरकी उपमा ही यथार्थ है, आमलककी उपमा अनुचित होती। विश्वके ज्ञानके लिये यह उपमा इसी काण्डमें आगे आयी है—*'जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना।'* (१८२।१) यह वसिष्ठजीके सम्बन्धमें भरतजीका वाक्य है। (प० प० प्र०) (ग) श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सरकार वाल्मीकिजीसे कहते हैं कि आप त्रिकालदर्शी हैं और सर्वदर्शी हैं यह विश्व आपके हाथमें बेरकी भाँति है; उसे जिधरसे चाहें उधरसे अनायास सब कुछ देख सकते हैं। भाव यह है कि आपसे कोई बात छिपी नहीं है। मेरे वन आनेका कारण भी आपसे छिपा नहीं है। त्रिकालज्ञको जगत्का सब हाल मालूम करनेमें आयास नहीं होता, उनकी अबाधित दृष्टि भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ देखती है, इसीलिये कहा जाता है कि विश्व आपके हाथमें बेर या आँवलेके समान है। ज्ञानीकी दृष्टिमें विश्व अपथ्य है अतः उसके लिये बेरकी उपमा है, और भक्तको विश्व पथ्य है; अतः उसके लिये आमलककी उपमा दी जाती है। वाल्मीकिजी ज्ञानी हैं; अतः कवि कहते हैं *'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा'* परन्तु रामचरितके वक्ता-श्रोता महात्मा भक्त हैं, अतः उनके लिये आमलक कहा गया, यथा—*'ते श्रोता बक्ता सम सीला। जानहि तीन काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥'* कहा भी है कि **'धात्रीफलं सदा पथ्यमपथ्यं बदरीफलम्।']**

टिप्पणी-३—*'कथा बखानी'* से जनाया कि आनन्दपूर्वक कहा, कैकेयीके कर्तव्यपर दुःख मानकर नहीं कहा, किंतु कथा बखानने योग्य समझकर कही। इससे विस्तारसे कहनेका प्रयोजन था क्योंकि इन्हें रामायण बनाना है। बखानना मानसमें 'विस्तारसे कहना' अर्थमें ही आया है। प्रभुने स्वयं क्यों कहा इसपर पूर्व दोहा ५४ में लिखा जा चुका है।

प० प० प्र०—*'दीन्ह बन रानी'* इति। *'दीन्ह बन'* और *'रानी दीन्ह'* शब्दोंसे वनका राज्य देना जनाया,जैसे कौसल्या मातासे *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* कहा था, वैसे ही यहाँ मुनिसे कहा *'दीन्ह बन (राजु) रानी।'* यद्यपि कौसल्याजीसे ऐसा कहनेमें भाव यह भी था कि उनके हृदयमें कैकेयीजीके प्रति तिरस्कारका भाव उत्पन्न न हो। कैकेयी शब्दमें कुटिलता आदिका भाव आरोपित होता है। *'रानी'* शब्दसे उनको निर्दोष ठहराया।

दो०—तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥१२५॥

अर्थ—पिताकी आज्ञाका पालन, उसपर भी माताका भला और भरत ऐसा भाई राजा और मुझको, हे प्रभो! आपका दर्शन, यह सब मेरे पुण्योंका प्रभाव है (अर्थात् इनमें कैकेयीका दोष नहीं)॥ १२५॥

टिप्पणी—१ *'सबु मम पुन्य प्रभाउ'* अर्थात् चारों बातें मेरे पुण्यके प्रभावसे हुईं। पुत्रको सभी चाहते हैं कि माता-पिताकी आज्ञा पाले, भाईका हित करे, मुनियोंका दर्शन करे, पर ये सब बातें भाग्यसे युक्त होनेपर ही बनती हैं। पुनः, २—यहाँ चारों पदार्थोंकी प्राप्ति दिखायी—*'तात बचन'* से 'धर्म', *'मातुहित'* से अर्थ, *'भाइ भरत अस राउ'* से काम और आपका दर्शन मोक्ष, यथा—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता। सत संगति संसृत कर अंता', 'बड़े भाग्य पाइअ सतसंगा', 'संत संग अपबर्ग कर।'*

नोट—मयङ्ककार शंका करके कि 'भरत तो राजा हुए नहीं फिर *'भाइ भरत अस राउ'* कैसे कहा? वचनमें विरोध पड़ता है', उसका उत्तर देते हैं कि इससे सिद्ध होता है कि भरतजी प्रेमरूपी यथार्थ राज्यके राजा हुए, प्राकृत राज्य रामजीके लिये छोड़ देंगे।

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे॥१॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावै कोई॥२॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥३॥
मंगलमूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥४॥

शब्दार्थ—**उद्वेग**=विक्षेप, दुःख, अड़चन, व्यग्रता खेद।

अर्थ—हे मुनिराज! आपके चरणोंका दर्शन करनेसे हमारे सब सुकृत सुफल हुए॥ १॥ अब जहाँ आपकी आज्ञा हो, तथा जहाँ किसी मुनिको कष्ट न हो॥ २॥ (क्योंकि) जिन राजाओंसे मुनि और तपस्वी दुःख पाते हैं वे राजा बिना अग्निके ही भस्म हो जाते हैं॥ ३॥ ब्राह्मणोंका सन्तोष (प्रसन्नता) समस्त मंगलका उत्पन्न करनेवाला है और उन पृथ्वीके देवताओं अर्थात् ब्राह्मणोंका कोप करोड़ों पीढ़ियोंको जला डालता है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'भये सुकृत''''हमारे'* इति। *'हमारे'* से श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और अपने तीनोंके सुकृतोंका सुफल होना कहा। ऊपर दोहेमें केवल अपने पुण्योंका प्रभाव कहा है इसीसे वहाँ एकवचन प्रयोग किया है। (ख) *'उदबेग'''' '* इति। भाव कि यदि आप कोई रमणीक आश्रम दूसरे मुनियोंसे खाली कराकर देंगे तो उनको दुःख होगा यद्यपि वे आपकी आज्ञा अवश्य पालेंगे। (पं०) वाल्मीकीयमें एक ऋषिने कहा है कि तुम्हारे यहाँ रहनेसे निशाचर मुनियोंको बहुत सताते हैं। यह उद्वेग है। पुनः, राजा जहाँ रहते हैं वहाँ वनमें मृगया आदि विहार करते ही हैं जिससे मुनियोंके चित्तमें खेद होता है। यह राजाओंके लिये शिक्षा दे रहे हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—२—*'मुनि तापस जिन्ह तें दुःख लहहीं।'* इति। (क) यहाँ उद्वेगका अर्थ स्वयं कविने स्पष्ट कर दिया। पूर्व *'उदबेग न पावइ'* कहकर यहाँ *'दुख लहहीं'* कहा। अर्थात् उद्वेग=दुःख। (ख) मुनि दुःख न पावें, यह संकोच क्यों है? इसका कारण अब बताते हैं *'मुनि'''' '*। (ग) ***'ते नरेस बिनु पावक दहहीं'*** अर्थात् वे राजा बिना अग्निके ही भस्म हो जाते हैं। यह साधारण शास्त्रमत कहा। 'नरेश' का भाव कि राजा हो तो यह गति हो जाय और हम तो राजा भी नहीं, राज्यसे च्युत होकर वन आये हैं तो यदि हमसे अपराध हो जायगा तो हमारा तो कहीं भी ठिकाना नहीं रहेगा। अतएव हम डरते हैं। पुनः, (घ) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'यहाँ रामजी अपनेको नरेश क्यों कहते हैं? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। समाधान यह है कि हमारे यहाँ राजा जाति है, जिसे क्षत्रिय कहते हैं। **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः'**—यहाँ 'राजन्य' से क्षत्रिय जाति ही अभिप्रेत है। अतः राजधर्म क्षत्रिय मात्रपर लागू है। दूसरी बात यह है कि रामजी वनमें राजा होकर ही आये हैं, यथा—*'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥'* अतः सरकारका अपनेको नरेश कहना सर्वथा आप्त था। (ङ) यह तो दुःख देनेका फल कहा और आगे फिर कहते हैं कि *'दहइ कोटि कुल'''' '* अर्थात् यदि वे कुपित हो गये तो राजा ही नहीं वरन् उसके करोड़ों कुलों वा पीढ़ियोंतकका नाश होता है। यथा—*'बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।'* (७। ११२। ३) *'जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा।'* (४। १७। ८) *'बिप्रद्रोह पावक सो जरई'* (७। १०९) (च) मुनियों, विप्रोंको दुःख देनेका फल कहा। उसके उदाहरण, ५६ कोटि यदुवंशी जल मरे, भानुप्रताप कुल-समेत गया, सगर-पुत्र-दंडक गौतम वा शुक्राचार्यके शापसे बिना अग्निके भस्म हुआ, सगरके पुत्र कपिल मुनिके द्वारा भस्म हुए। सहस्रबाहुसे दुःख पाकर परशुरामजीने उसको, उसके कुल और क्षत्रिय-कुलोंका नाश किया।

नोट-३ *'मंगलमूल बिप्र परितोषू'* अर्थात् मुनि, विप्र और तपस्वियोंको पीड़ित करनेका फल वह है जिसे प्रथम कह आये और उनकी प्रसन्नता मंगलकी मूलक है, जैसे वसिष्ठजीकी प्रसन्नतासे कन्या पुत्र हो गयी। और भी अनेक मंगल हुए। श्रीभरतजीने स्वयं कहा है *'दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥'* (२५५। ७) और दशरथजीने भी कहा है—*'सब पायउँ रज पावनि पूजें'''' '*, *'प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं'* (दोहा ३, ४) इससे जनाया कि हम उनकी प्रसन्नता चाहते हैं जिससे वनमें जाते हुए मंगल हो।

अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥ ५॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला॥ ६॥

सहज सरल सुनि रघुबरबानी। साधु साधु बोले मुनि ग्यानी॥७॥
कस न कहहु अस रघुकुलकेतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥८॥

शब्दार्थ—**साला**=शाला, घर, कुटी। **साधु साधु**=धन्य-धन्य! वाह-वाह। बहुत खूब!—देखिये बा० १८५ (८) *'साधु साधु करि ब्रह्म बखाना'।*

अर्थ—ऐसा हृदयमें जानकर वही स्थान बताइये जहाँ सीता-लक्ष्मणसहित जाऊँ॥ ५॥ वहाँ सुन्दर तृण और पत्तोंकी कुटी बनाकर, हे दयालु! कुछ कालतक निवास करूँ॥ ६॥ रघुवरकी सहज ही सरल वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि बोले—साधु! साधु! हे रघुवंशकी ध्वजा! आप ऐसा क्योंकर न कहें! अर्थात् ऐसा कथन आपके योग्य ही है, आपको शोभता है। आप सदैव वेदकी मर्यादाके पालनेवाले हैं॥ ७-८॥

नोट—१(क) *'अस जिय जानि'* अर्थात् जिसमें हमारा मंगल हो और हम अमंगलसे बचे रहें। (ख) *'बासु करौं कछु काल'* ''—अर्थात् एक वर्षतक—(पु० रा० कु०); समय आनेपर दंडक वन जाऊँगा। (वैं०) ऐसा ही अ० रा० में कहा है—**'यत्र मे सुखवासाय भवेत् स्थानं वदस्व तत्।'** (२। ६। ५०) **'सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम्।'** (५१) अर्थात् आप मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये जहाँ सीताके साथ रहकर कुछ समय बिताऊँ। वाल्मीकीय कल्पमें महर्षि भरद्वाजजीसे स्थान पूछा गया है, वाल्मीकिजीसे नहीं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'अस जिय'* ''' इति। (क) श्रीरामजीके शब्दोंका आशय यह है कि स्थानमें दो विशेषताएँ होनी चाहिये। एक तो यह कि वहाँ हम स्वतन्त्रतापूर्वक रहें तो भी हमारे किसी भी आचरणसे किसी मुनिको तनिक भी अशान्ति न हो। ऋषि-मुनियोंका हमपर अपार स्नेह है, वे हमसे कभी कुछ नहीं कहेंगे, पर उन्हें तनिक भी असुविधा या मनमें उद्वेग हमारे कारण हो, यह हमें सर्वथा अभीष्ट नहीं है। दूसरी विशेषता यह होनी चाहिये कि वहाँ 'रुचिर पर्णशाला' बनायी जा सके। भाव यह कि स्थान उजाड़ न हो, हरे-भरे वृक्ष हों, पुष्प हों, कन्दमूल फलादि हों, जल समीप हो और स्थान किसी प्रकार उपद्रवग्रस्त न हो। (ख) पर्णशाला रुचिर बने, इससे जनाया कि न तो स्थान घिरा हुआ हो कि वायु न लगे और न इतना खुला कि आँधीमें कुटिया ही उड़ जाय। श्रीराघवेन्द्रजीके प्रश्नका भाव यह है कि वातावरण अनुकूल हो, स्थल रम्य हो, आवश्यक वस्तुएँ समीप हों, तभी पर्णशाला रम्य होगी।

☞ स्मरण रहे कि यहाँ वाल्मीकिजीसे *'ठाऊँ'* पूछा है, क्योंकि कुछ समयतक निवास करना इष्ट है, श्रीभरतजीकी प्रतीक्षा करनी है। भरद्वाजजीसे मार्ग पूछा; क्योंकि ठहरना था। आगे अगस्त्यजीसे मन्त्र पूछेंगे; क्योंकि राक्षसोंका नाश करना वहाँ इष्ट है। इस साधारण भावके अतिरिक्त *'मग' 'ठाऊँ' 'मंत्र'* तीन पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग तीन पृथक्-पृथक् ऋषियोंके सम्बन्धमें जो किया गया है उसकी उपयुक्तता देखिये। भरद्वाजजी *'परमारथ पथ परम सुजाना'।* (१। ४४। ३) हैं अतः उनसे *'मग'* (पथ) पूछा गया। वाल्मीकिजीके सम्बन्धमें पूर्व कहा है *'रामायन जेहि निरमयेउ'* (१। १४) और रामायण=राम+अयन=रामजीके रहनेका स्थान। 'रामायण'-रचनाके सम्बन्धसे इनसे *'ठाऊँ'* (रहनेका स्थान) पूछा। महर्षि अगस्त्यजी श्रीराममन्त्रके जापक एवं प्रचारक हैं। यथा—*'निसि दिन देव जपतहहु जेही'।* अगस्त्य-संहिता आपकी प्रसिद्ध है। अतः उनसे मन्त्र पूछा। विशेष विस्तृत लेख अरण्यकाण्ड १३ (४) में देखिये।

नोट-२—*'सहज सरल सुनि रघुबरबानी। साधु'* ''' इति। (क) सहज सरल है अर्थात् उक्ति-युक्तिके वचन नही हैं वरन् स्वाभाविक सरल हैं। 'साधु-साधु' ये वचन सत्य हैं, आप सर्वकालसे ब्राह्मणभक्ति करते आये हैं—वैकुण्ठमें सनकादिकके जय-विजयको शाप देनेपर आपने अपने उन प्रिय पार्षदोंको मर्त्यलोकमें गिरा ही दिया, भृगुकी लात सही। (पु० रा० कु०) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि बात स्वाभाविक है। वनमें रहना है, अतः उस वनको भली प्रकार जाननेवाले महर्षि वाल्मीकिसे स्थल पूछ रहे हैं। पूछा भी सरल ढंगसे। अपनी आवश्यकता और दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया। महर्षिने प्रश्नकी प्रशंसा भी की। किंतु महर्षि ठहरे ज्ञानी मुनि। उनकी ज्ञान-दृष्टि कभी ढकती नहीं। अतः वे पहिले तो दोनों भाइयोंकी स्तुति करते रहे और अन्तमें बोले *'चिदानंदमय'* '''*।* (ख) पंजाबीजीका मत है कि सहज सरल *'रघुबर'* का

विशेषण है। प्रज्ञानानन्द स्वामीका भी यही मत है। दो० ४२ *'सहज सरल रघुबर बचन'* देखिये।

नोट-३ वि० त्रि०—*'सहज सरल'''''ग्यानी'* इति। यद्यपि ज्ञानी मुनि हैं, पर हैं तो कवि। सरकारके अभिनयकी स्वाभाविकतापर फड़क उठे और 'साधु-साधु' कहने लगे। हिन्दीमें जैसे 'वाह-वाह' कहा जाता है, उसी भाँति संस्कृतमें बखान करनेके स्थलमें साधु-साधु कहते हैं, यथा—*'साधु साधु कहि ब्रह्म बखाना'।* यहाँपर *'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा'* पर आदिकवि मुग्ध हो गये।

नोट—४—*'कस न कहहु अस रघुकुलकेतू।'''''* इति। (क) रघु महाराजने वेदमर्यादाका पालन किया। उनके कुलमें सब मर्यादाकी रक्षा करते आये और आप तो उस कुलमें ध्वजारूप हैं। (पु० रा० कु०)। (ख) यहाँ रघुनाथजीके दोनों स्वरूप लक्षित कर रहे हैं। एक तो *'रघुकुलकेतू'* पदसे कि इस कुलमें ऋषियोंका मान्य सदासे चला आया है, अतएव आप उनका आदर क्यों न करें? दूसरा 'संतत' पदसे ईश्वर-पक्षका लक्ष्य कि मत्स्य,कूर्मादि अवतार लेकर आपने वेदरूपी सेतुकी सदा रक्षा की है तब इस रघुनाथरूपमें क्यों न करेंगे? (पंजाबीजी)

छंद—श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस सीसु अहीसु महिधरु लषनु सचराचरधनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खलनिसिचरअनी॥

सो०—राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥१२६॥

शब्दार्थ—**अबिगत**=किसीसे पृथक् नहीं, सबमें परिपूर्ण, सर्वव्यापक=अव्यक्त [प्राकृतके नियमोंसे अ + वि + अ + क् + त का अवि + क् + अ + त हो गया। फिर क् + अ=ग हो गया, जैसे प्रकट= प्रगट। इस प्रकार अविगत=अव्यक्त। (गौड़जी)]=जो जाना न जाय। **अनी**=सेना।

अर्थ—हे श्रीराम! आप वेद-मर्यादाके रक्षक हैं, जगत्के स्वामी हैं और श्रीजानकीजी आपकी आदि शक्ति हैं जो कृपाके समुद्र-(आप-) का रुख पाकर जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करती हैं। जो हजार सिरवाले पृथ्वीके धारण करनेवाले सर्पराज शेषनाग और चराचरमात्रके स्वामी हैं वे लक्ष्मणजी हैं। देवताओंके कार्यके लिये मनुष्योंके राजाका अर्थात् नृप-शरीर धरकर आप दुष्ट निशाचरोंकी सेनाको नाश करने चले हैं। हे श्रीराम! आपका स्वरूप वाणीका विषय नहीं, बुद्धिसे परे, अविगत, अकथनीय और अपार है। वेद निरन्तर 'नेति-नेति' कहते हैं अर्थात् इति नहीं लगाते, जितना हमने कहा इतना ही नहीं है, उसकी इन्तहा नहीं, वह ऐसा ही नहीं है, इत्यादि।

टिप्पणी—१ यहाँ ऐश्वर्य कह रहे हैं। अतः *'राम'* पद दिया अर्थात् आप सबमें रमण करते और सब आपमें रमते हैं। श्रुतिसेतु पालक हो अतएव उसको तोड़नेवालों, उसकी मार्यादाका उल्लंघन करनेवालोंका शासन करते हो, नीति और ज्ञानके अधिकरण हो, यह *'पालक'* और *'जगदीस'* से जनाया। अथवा, रघुकुलकेतु हो, राजा हो, अतएव श्रुतिसेतुपालक हो और जगदीश अर्थात् भगवान् हो अतएव माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों प्रकारसे जगत्की रक्षा और श्रुतिसेतुका पालन करते हो।

नोट—१ *'माया'*=आदि शक्ति, यथा—*'आदि शक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥'* बा० १५२ (४) में इस शब्दकी विस्तृत व्याख्या हो चुकी है। 'माया' शब्दके भयसे कुछ लोग यों अर्थ करते हैं—'और जानकीजीकी माया कृपानिधानका रुख पाकर जगत्को''''', यथा—*'माया सब सिय माया माहू।'* अद्वैतवादी लोग 'माया' से यहाँ 'विद्या माया' का अर्थ करते हैं। (ख) *'सृजति'''* यथा—'**उद्भवस्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥**' (१ मं० श्लो० ५) *'रुख पाइ'* अर्थात्

आपको कहना नहीं पड़ता, आपकी इच्छा होते ही वे उसे जान लेती हैं और कार्य सम्पन्न कर देती हैं। बालकाण्डमें मायाका प्रभुकी आज्ञासे ब्रह्माण्डोंका रचना कहा है, यथा—*'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥'* (१। २२५। ४) 'सम्भवतः वहाँ 'माया' से विद्यामाया अभिप्रेत हो, क्योंकि विद्यामायाका भी संसाररचना करना कहा गया है, पर उसमें स्वयं बल नहीं है। यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥'* (३।१५) वह प्रभुके हृदयकी नहीं जान सकती और श्रीसीताजी प्रभुके हृदयकी जाननेवाली हैं, यथा—*'पिय हिय की सिय जान-निहारी।'* (१०२।३) क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। (ग) *'कृपानिधान की'* इति। बालकाण्डमें *'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।'* (१८। ७) में बताया जा चुका है कि महारानी श्रीजानकीजी श्रीरामजीको 'करुणानिधान' नामसे सम्बोधन किया करती थीं। सद्गुरुदेव श्रीरूपकलाजी महाराज कहते थे कि जहाँ-जहाँ महारानीजीका और प्रभुके सम्बन्धकी चर्चा है वहाँ-वहाँ 'करुणानिधान', 'कृपानिधान' या पर्यायी शब्दोंका प्रयोग है। कारण यह कि महारानीजी प्रभुको इसी नामसे पुकारा करती हैं। यही कारण है कि सुन्दरकाण्डमें मुद्रिका देनेपर और परिचय देनेपर भी हनुमान्‌जीपर विश्वास नहीं किया गया, पर ज्यों ही उन्होंने कहा कि *'सत्य सपथ करुनानिधान की',* त्यों ही उनके श्रीरामदूत होनेपर विश्वास हो गया, कारण कि यह बात सबको नहीं मालूम, श्रीरामजी ही जानते थे। मानस-वन्दना-प्रकरणमें तथा विनयमें भी सिफारिश करानेकी प्रार्थनामें श्रीगोस्वामीजीने श्रीसीताजीकी कृपा-करुणाको उत्तेजित करनेके लिये इसी शब्दका प्रयोग किया है। यथा—*'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।'* (१८। ७) *'सरल प्रकृति आपु मानिए करुनानिधानकी।'* (वि० ४२) इत्यादि। (घ) पं० रामकुमारजी *'कृपानिधानकी'* का भाव यह लिखते हैं कि उद्भव-स्थिति-संहारकी कर्त्री उनको करके उनको आपने बड़ाई दी, उनपर आपकी कृपा है।

नोट—२ इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा मिश्रित आद्योपान्त कही गयी है; किसी कल्पमें लक्ष्मणजी शेषावतार हैं, किसीमें नित्य साकेतवासी लक्ष्मणके अवतार हैं। उसके अनुसार यहाँ दोनों अर्थ लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें होते हैं। एक तरहसे यह अर्थ कि ये सहस्रशीर्ष शेष हैं जो चराचरके स्वामी हैं। दूसरा यह कि चराचरसहित शेषजीके या सारे संसार और शेषजी दोनोंके नियन्ता या स्वामी हैं। बालकाण्ड दोहा १७ (७) में लक्ष्मणजीके तीन स्वरूपोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। *'सेष सहस्रसीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'* में देखिये। दोहा १८७ (२) *'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।''''* भी देखिये। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ लक्ष्मणजीका तीनों रूपों—शेषरूप, विष्णुरूप और नित्य लक्ष्मणरूपसे अवतार लेना कहा है।

टिप्पणी—२ *'जो सहससीस अहीस''सचराचर धनी'* इति। श्रीरामजी पालक, सीताजी कर्त्री और लक्ष्मणजी धारणकर्त्ता हैं; अतएव इन्हें *'सचराचर धनी'* कहा। अथवा, तीनों सचराचरधनी हैं। अथवा 'सचराचरधनी', श्रीरामजीका सम्बोधन है। *'सहससीस'* का भाव कि आपका गुणगान करनेके लिये इतने सिर हैं। उस कीर्तिको सुनकर आप श्रुतिसेतुका पालन करते हैं।

टिप्पणी—३ (क) प्रथम जगदीश-(ईश्वर-) को कहा फिर प्रधान तीनों गुणोंको पृथक्-पृथक् कहा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। (ख) *'दलन खल निसिचर'''* अर्थात् साधु निशाचरोंको नहीं। (ग) पूर्व श्रीरामजीने मुनिको त्रिकालदर्शी कहा था। वह यहाँ चरितार्थ है। तुम जगदीश, जानकी आदिशक्ति और लक्ष्मण *'सहससीस''धनी'*—यह भूतकाल; *'सुरकाज धरि नरराज तनु'* यह वर्तमान और *'चले दलन'''* यह भविष्य है।

नोट—३ *'सुरकाज धरि नरराज तनु'* इति। यही आकाशवाणीने देवताओंसे कहा है—*'तुम्हहिं लागि धरिहौं नरबेसा॥ अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥'''परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥ हरिहौं सकल भूमि गरुआई।'* (१। १८७) *'सुरकाज'* से अवतारका कारण कहा, *'धरि नरराज तनु'* से अवतार और *'चले दलन खल निसिचर अनी'* से अवतारका कार्य कहा। खल राक्षसोंको मारने चले हैं,

यही खर-दूषणके दूतोंसे श्रीरामजीने कहा भी है—'*हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥*' (३। १९। ९)

टिप्पणी—४ '*राम सरूप तुम्हार बचन*''' इति। वाणीसे परे, यथा—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥**' (तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ४) अर्थात् जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है। अनुमान बुद्धिसे किया जाता है। अत: 'बुद्धि पर' से जनाया कि जितने भी अनुमान हैं उन सबोंसे आप पृथक् हैं, बुद्धिकी पहुँच आपतक नहीं है। मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है '**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः।**' (३। १। ८) अर्थात् वह न नेत्रसे ग्रहण किया जाता है न वाणीसे और न अन्य इन्द्रियोंसे। अविगत=सबमें प्राप्त, सबसे भिन्न। वाणी और बुद्धि वहाँ नहीं पहुँचती अत: अपार है। अपार है इसीसे वेद नेति-नेति कहते हैं। वेद ऐसा कहते हैं तो मैं भला कैसे कह सकता हूँ? वेद सबसे श्रेष्ठ हैं अत: उन्हें अन्तमें कहा। इन विशेषणोंसे अन्तर्यामी और द्विभुज परात्पर रूपका ऐक्य कहा।

पंजाबीजी—रघुनाथजीने रहनेका स्थान पूछा, उसके उत्तरमें उन्होंने निर्गुण, सगुण और भूपरूप तथा तीनों रूपोंके स्थान कहे। सोरठेमें शुद्धरूप और चौपाइयोंमें मायासबल और भूपरूप कहते हैं।

नोट—४ यही एक छन्द है जिसमें कविने तुलसीका भोग नहीं लगाया, अपना नाम नहीं दिया। ऐसा करके अपनेको वाल्मीकिजीका अवतार जनाया। इसी प्रकार श्री १०८ स्वामी रामानुजाचार्य महाराजजीने अपने ग्रन्थमें अपनेको शेषावतार गुप्त रीतिसे जनाया है। गीतावलीसे भी इस बातकी पुष्टि होती है, यथा—'*जनम जनम जानकीनाथके गुनगन बिमल तुलसिदास गाये।*' (गी० ६। २३) जब स्वयं वाल्मीकि रूपसे कह रहे हैं तब नाम क्यों दें, प्रत्यक्ष ही तो कह रहे हैं।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ १॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ २॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥ ३॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगतउरचंदन॥ ४॥

अर्थ—संसार तमाशा है। आप उसके देखनेवाले हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश नचानेवाले हैं॥ १॥ वे भी आपका मर्म नहीं जानते; तब और कौन आपको जाननेवाला हो सकता है?॥ २॥ वही जानता है जिसे आप जना दें। आपको जानते ही वह आपका या आपका स्वरूप वा आप ही (ब्रह्म) हो जाता है॥ ३॥ हे रघुनन्दन! हे भक्तोंके हृदयको शीतल, आह्लादित और सुवासित करनेके लिये चन्दनरूप! आपकी कृपासे ही भक्त आपको जानते हैं॥ ४॥

नोट—यहाँ कठपुतलीके तमाशेसे रूपक बाँधा गया है। इस खेलमें कठपुतलीका नचानेवाला सूत्रधार, सूत्र या तार, कठपुतली और देखनेवाले चाहिये; वे सब निम्न टिप्पणियोंसे स्पष्ट हो जायँगे।

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—'*जगु पेखन*''' इति। (क) जग दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। जग मायिक है, पञ्चतत्त्वमय है, जड है। आप मायिक गुणोंसे परे हैं। इसीसे आप देखते हैं, जगत् आपको नहीं देख पाता। जीव चाहे विधि, हरि, हरकी पदवी पा जाय तो भी नाचा ही करेगा- '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' अथवा, (ख) जगत् तमाशा है। विधि, हरि, हर नचानेवाले हैं जो रजोगुण-सत्त्वगुण-तमोगुणरूपी डोरीपर नचाते हैं और आप देखते हैं। आपको रिझानेके लिये यह तमाशा करते हैं। अथवा, (ग) तीनोंको आप नचाते हैं और इनसे पृथक् सबके नियन्ता हैं।

प० प० प्र०—'**यद् दृष्टं तन्नष्टम्**' इसके अनुसार सर्वदृश्य जगत् नश्वर है। आप द्रष्टा हैं यह कहकर जनाया कि आप नित्य हैं, अविनाशी हैं।'

वै०—जगत् तमाशा है। आप नित्य धाममें बैठे हुए झरोखा-मार्गसे देखनेवाले हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश तमाशाके करानेवाले हैं। त्रिगुणात्मक त्रिवर्णा माया नटी खेल करनेवाली है जिसने प्रथम मोहरूपी अन्धकारको

रचना की। जीव उसमें भ्रमित हुआ। फिर उसने आकाशादि पञ्चभूत रचे जो जीवको बौराने लगे। फिर उसने अनेक प्रजा, चिन्ता, शब्दादि विषय और दस इन्द्रिय रचे। मनरूपी पक्षीको इन्द्रियोंका सङ्गी बनाया। बस यह अब सूक्ष्म भूतोंसे मिलकर दसों दिशाओंमें उड़ने लगा, कहीं तृप्ति नहीं होती। फिर नटीने चौरासी योनिरूप चित्रसारी रची और कालरूप सर्प बनाया जो चित्र प्रतिमाओंको खाने लगा। इत्यादि ब्रह्मा उत्पन्न, विष्णु पालन और शम्भु संहार करते हैं। ये भी मर्म नहीं जानते।

नोट—*'तेउ न जानहिं'''* ' इति। (क) यही सिद्धान्त वसिष्ठजी, हनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी और भुशुण्डीजी आदिका है। यथा—*'बिधि हरिहर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जियँ देखहु नीकें॥ राम रजाइ सीस सबही कें॥'* (वसिष्ठवाक्य; २। २५४। ६—८) *'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥ जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥ जा बल सीस धरे सहसानन।'''*—(हनुमद्वाक्य सुं० २१) *'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस॥ '''*'—(श्रीमद्‌लक्ष्मणवाक्य; सुं० ५६) *'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥'''* '—(श्रीभुशुण्डिवाक्य; उ० ९१-९२) (प्र० सं०) 'ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं कि *'सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।', 'पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानै कोई।'* (१। १८६) (ख)—*'मरम तुम्हार'*—मर्म यह कि किस नाचसे आप प्रसन्न होते हैं यह कोई नहीं जानता। (पाण्डेजी) अथवा, आप कहाँ हैं, क्या करते हैं यह कोई नहीं जानता, क्योंकि इनकी दृष्टि इसी व्यापारमें रहती है। (वै०)

मिलान कीजिये—'**को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्। क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥**' (भा० १०। १४। २१) ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप अवतार लेकर लीला करने लगते हैं तब त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिये, कब और कितनी होती है।—यह 'मर्म' शब्दका भाव है।

'सो जानइ जेहि'''भगत उर चंदन' इति।

पंजाबीजी—नट जो खेल करता है उसे उसके शिष्य जानते हैं। यहाँ ब्रह्मादिक शिष्य ही नहीं जानते तो दूसरा क्या जाने? यह कहकर नाट्यकी अगाधता दर्शित की। इसपर प्रश्न होता है कि 'तो फिर ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हुए? उसपर कहते हैं कि *'सो जानइ'''जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'* और *'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन'''।'* अर्थात् आपकी कृपासे ज्ञानी और भक्त आपको जानते हैं। ज्ञानीको ज्ञानका फल यह मिलता है कि वह तुम्हारा स्वरूप हो जाता है, अभेदता हो जाती है। यह निर्गुणरूप कहा गया और आपके जो भक्त अधिकारी हैं वे जानते हैं। वे कैसा जानते हैं, यह *'चिदानंदमय'''* ' अगली चौपाईमें कहते हैं। वे सगुणरूपको ही विकार-रहित-सच्चिदानन्द रूप जानते हैं, अन्य जीवोंकी तरह आपकी देहको जन्म-मरण आदि विकारोंसे युक्त नहीं मानते। यह सगुण रूप कहा।'

पु० रा० कु०—(क) जिसे आप जनाते हैं वही जानता है और जाननेपर आपका स्वरूप हो जाता है—ज्ञानी सायुज्य और भक्त सामीप्य सारूप्य होकर सेवकपद माने हुए हैं। भाव यह कि स्वरूपसे या पञ्चमुक्तिद्वारा *'तुम्हइ होइ जाई'* कुछ यह नहीं कि उत्पत्ति-स्थिति-संहार करना चाहे तो कर ले। (ख) *'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'* यह ज्ञानका फल है। ज्ञानी प्रभुमें मिल जाते हैं, भक्त पृथक् रहते हैं। प्रभुके स्वरूपको दोनों जानते हैं यही जनाया है। दोनों जगह 'जानत' पद दिया गया। भक्त-उर-चन्दन अर्थात् भक्तोंके उरमें चन्दनरूप—इस कथनसे भगवत् और भागवत रूपमें पृथक्ता पायी गयी, जैसे चन्दन जिसके लगा है और चन्दन ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

पाण्डेजी—तुम्हें जान लेनेपर *'तुम्हइ होइ जाई'* अर्थात् तुम्हारा या तुम्हारे-गुणों-मय हो जाता है। इस कथनका समाधान आगे करते हैं—*'भगत उर चंदन'।* जो कहा कि *'तुम्हइ होइ जाई'* उसका दृष्टान्त चन्दनका

है। मलयागिरि-चन्दनके वृक्षकी सुगन्धसे अन्य सब वृक्ष चन्दन हो जाते हैं परंतु रूप उनका बना रहता है गुणमात्र चन्दनका आ जाता है। वैसे ही भक्त आपको जान लेनेपर आपके गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। (*'संत भगवन्त अन्तर निरन्तर नहिं किमपि कह दास तुलसी'* इति विनये। यह भाव भगवत्-स्वरूप हो जानेका है)। भक्त उर चन्दन=भक्तोंके हृदयको चन्दनवत् शीतल और सुगन्धित करनेवाले। विरहरूपी तपनको शीतल करनेवाले। (रा० प्र०) यथा—*'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ।'* (१८२)

पं० श्रीकान्तशरणजी—ब्रह्मको जो जानता है वह ब्रह्म ही होता है। इसका भाव यह है—**'यस्यात्मा शरीरम्।'** (बृह० ३। ७। २२), (माध्य० ५। ७। २२); तथा **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।'** (छां० ६। ८। ७) इत्यादि श्रुतियाँ चिदचिदात्मक जगत्‌को ब्रह्मका शरीर और ब्रह्मको उनकी आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) अपने शरीरके प्रति आत्मा होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देव हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करता है; वैसे परमात्मा भी आत्माओंका आत्मा है। अतः उपासक अपने शरीरी उपास्य (ब्रह्म) के लिये **'अहं ब्रह्मास्मि'** ऐसा अनुसन्धान कर सकता है। यथा—**'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते। अहं वै त्वमसि भगवो देवते॥'** इस श्रुतिका अर्थ है कि हे भगवन्! हे दिव्यगुणविशिष्ट! मैं आप हूँ और आप मैं हैं…। यह अनुसन्धान प्रीतिके प्रणयभावमें होता है। *'मम तव तव मम प्रणय यह।'* कहा है; यथा—*'तोर कोस गृह मोर सब।'* (लं० ११५) इस प्रकारकी प्रणयात्मक उपासनासे जीवमें ब्रह्मके साधर्म्य (लक्षण) आ जाते हैं। यथा—**'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।'** (गीता १४। २) साधर्म्यके आठ लक्षण हैं। यथा—**'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।'** (छा० ८। १। ५) अर्थात् यह आत्मा निष्पाप, वृद्धतारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। ये आठों लक्षण ब्रह्ममें नित्य रहते हैं और जीवमें इसके मुक्त होनेपर नित्य धाममें प्राप्त होते हैं तो यह भी ब्रह्म संज्ञासे कहा जाता है। यही बात अगली अर्धालीके *'भगत उर चंदन'* के विशेषणसे घटित होती है।…मुक्त होनेपर साधर्म्य प्राप्त जीवकी ब्रह्म संज्ञा भी होती है पर जीव भाव रहता है, जैसे चन्दनसे हुए वृक्षोंका रूप कह आये। अतः जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं और इनका भेद वास्तविक है। तुमको जानते ही तुम ही हो जाता है। जैसे भूतोंमें मिलकर भूत, देवोंमें मिलकर देव, वैसे ही वह तुम्हारा सजातीय समीपी हो जाता है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—*'तुम्हइ होइ जाई'*=तुम्हारे जानते मात्र तुम्हारा हो जाता है। ☞यहाँ जानना केवल कृपासाध्य निश्चित किया।

प० प० प्र०—(क) *'तेउ न जानहिं…'* से 'अज्ञेय'—वाद सूचित होता है; इसीका आगे निरास किया है। (ख) *'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'*—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** यह निर्गुण सायुज्य-कैवल्य मुक्ति-प्रदर्शक वचन है। सरूपता मुक्ति केवल जाननेसे नहीं प्राप्त होती। कोई भी जीव ईश्वर हो नहीं सकता। ईश्वर एक है। *'जीव अनेक एक श्रीकंता'।* सरूपता मुक्तिमें भी *'बिधि हरि संभु नचावनिहारा'* न होगा। श्रीवत्स लक्ष्मी और कौस्तुभकी प्राप्ति भी सरूपतामें नहीं है। (ग) *'तुम्हरिहि कृपा…'* इति। निर्गुण वा सगुण ब्रह्मको जाननेका एकमात्र साधन भगवत्कृपा है यह यहाँ स्पष्ट किया। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'** जपतपादि साधन अकिञ्चित्कर हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता) ☞जो सिद्धान्त **'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।'** (बाल० मं० श्लो०) में उपक्रमसे कहा उसका यहाँ अभ्यास है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।'* (७। १२२) में उपसंहार है। (घ) *'जानहिं भगत'* से जनाया कि साधनरूप नवधाभक्ति करनेसे आप कृपा करते हैं तब ज्ञान होता है—**'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'** (गीता १०।१०)

श्रीनंगे परमहंसजी—**'तुम्हइ होइ जाई'**=आपका हो जायगा। इसके अर्थमें मतभेद है। 'तुम्हारा रूप हो जाता है', 'ब्रह्म हो जाता है' ये अर्थ लोगोंने किये हैं। परंतु ऐसा अर्थ करनेमें शब्दार्थ विरोध हो जाता है, क्योंकि शब्दार्थ करनेमें केवल पाँच अक्षर 'क, म, स, ह, न' अध्याहार लिये जाते हैं। इनमेंसे

शब्दार्थ करनेमें आवश्यकतानुसार अक्षर लेता जाय भाषा बनती चली जायगी यह नियम है। अब देखा जाय कि मूलका कोई शब्द रूपको सूचित नहीं करता। अतः शब्दविरोध है। *'तुम्हहिं' 'तुम्हइ'* ये दोनों शब्द श्रीरामजीके लिये हैं। *तुम्हहिं*=आप। अब मूलमें दो शब्द बचे *'जानत'* और *'होइ जाई'।* इनको 'आप' 'आप' दोनों शब्दोंके साथ लगा दीजिये। बस अर्थ बन जायगा कि आपको जानते आपका हो जाता है। अर्थात् संसारका नहीं रह जाता जैसे प्रह्लादजीने जब श्रीरामजीको जाना तब पिताके न रह गये। दूसरी चौपाई भी इसी भावको सूचित करती है। *'तुम्हरी कृपा''चंदन'* साफ द्वैतसूचक है। फिर प्रथम चरण भी यही है कि *'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'* एक जनानेवाला हुआ दूसरा जाननेवाला है। यह द्वैत प्रत्यक्ष कहा जायगा। पुनः जनानेवाले श्रीरामजी और जाननेवाला जीव ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? श्रीरामजी समर्थ हैं, जीव असमर्थ और परवश है, श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है, श्रीरामजी विभु हैं, जीव अणु है। अतः उपर्युक्त पदका अर्थ अद्वैतपरक नहीं हो सकता क्योंकि प्रसंग अद्वैतका नहीं है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—वाल्मीकिजी कहते हैं कि जिसे आप जना देते हैं, वही आपको जान सकता है। ठीक ऐसी ही श्रुति है—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।**' (अर्थात् यह जिस परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति परमात्मा अपने स्वरूपको व्यक्त कर देता है। (मु० ३। २। ३) आपको जानते ही आपके स्वरूपमें मिल जाता है। यहाँ जाननेसे तात्पर्य तत्त्वतः जाननेसे है, क्योंकि इस प्रकारसे जाननेसे ही स्वरूपमें प्रवेश श्रीमद्भगवद्गीता कहती है। '**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।**' *'तुम्हहिं'* का अर्थ तुम्हारा या आपका नहीं हो सकता।' जहाँ जो अर्थ स्पष्ट है वहाँ आग्रह नहीं होना चाहिये। '**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**' (मु० ३। २। ९) यह श्रुति कहती है। इससे भक्तिकी कार्यकारितामें भी बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि साथ ही यह भी कहते हैं कि तुम्हारी कृपासे भक्त ही तुम्हें जान सकते हैं। ठीक यही बात भगवद्गीता (१८। ५५) में है, यथा—'**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**' (अर्थात् भक्तिके द्वारा वह मुझको, मैं जैसा और जो हूँ, तत्त्वसे जान लेता है। भाव यह कि स्वरूप और स्वभावसे मैं जो हूँ तथा गुण और विभूतिके कारण मैं जितना हूँ ऐसे मुझ परमेश्वरको इस पराभक्तिके द्वारा भक्त जान लेता है। यहाँ पराभक्तिको ही भगवान्में तत्त्वतः प्रवेश करानेमें हेतु बतलाया है। श्रीरामानुजभाष्य)

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ ५॥
नर तनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ ६॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ ७॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥ ८॥

अर्थ—आपकी देह सत्-चित्-आनन्द-मय है, विकार रहित है, इस मर्मको अधिकारी ही जानते हैं॥ ५॥ सन्तों और देवताओंके कामके लिये आपने मनुष्य शरीर धारण किया है। (इसीसे) प्राकृत पञ्चतत्त्वरचित, साधारण राजाओंके जैसा आप कहते और करते हैं॥ ६॥ हे राम! आपके चरित्रोंको देख-सुनकर मूर्ख (आसुरी सम्पत्तिवाले) मोहित होते हैं और पण्डित (बुद्धिमान्, दैवी सम्पदावाले) सुखी होते हैं॥ ७॥ आप जो कुछ कहते हैं, जो कुछ करते हैं वह सब सत्य (यथार्थ, उचित) ही है, (क्योंकि) 'जैसा काछ काछे वैसा ही नाच नाचना चाहिये'। आपने मनुष्यका स्वाँग रचा है, नर-शरीर धारण किया है, अतः उसीके अनुकूल कहना, करना उचित ही है॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तमरामकुमारजी—१ *'चिदानंदमय देह''अधिकारी'* इति। चित् (सम्यक् ज्ञान) और आनन्दमय है। पञ्चतत्त्व वा भूतमय नहीं है। किन्तु दिव्यतन है। देह-देही-भेदरहित है। *'बिकार'*=षड्विकार, जैसे जन्म जरा मरण इत्यादि। *'अधिकारी'* से तात्पर्य उनसे है जो चतुर्दश-साधन-सम्पन्न हैं (जो आगे मुनि कहेंगे)।

टिप्पणी—२ यहाँ तीसरी बार फिर जानना कहा। तीन बार पृथक्-पृथक् लोगोंका जानना कहा गया—(१) *'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥'* (२) *'तुम्हरी कृपा तुम्हइ रघुनंदन। जानत भगत भगत उर चंदन॥'* और (३) *'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* पहलेमें ज्ञानियोंका जानना, दूसरेमें भक्तोंका और तीसरेमें फिर ज्ञानियोंका जानना कहा। भक्तोंके लिये कृपासाध्य और ज्ञानियोंके लिये क्रियासाध्य दिखाया; जैसे अर्जुनको दिव्य नेत्र देकर रूप दिखाया।

टिप्पणी—३ 'देह *तुम्हारी'* का भाव कि आपका यह विग्रह यह लीलातन भी दिव्य है, सच्चिदानन्दमय है—**'विरराम महातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः।'** (रामस्तवराज) जीवोंकी देह ऐसी नहीं होती। उनका स्वरूप सच्चिदानन्द है।

बाबा हरिहरप्रसादजी—*'चिदानंदमय'''* इति। चित् आनन्दमय है। यहाँ सत् पदका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। *'जान अधिकारी'* अर्थात् आपकी कृपाके अधिकारी जानते हैं। देहको चिदानन्दमय कहकर देही-देह-विभाग-शून्य ठहराया; क्योंकि अवतारके पूर्व ही मनुजीको इसी स्वरूपका दर्शन हुआ था, नर-शरीर तो पहले भी था तो अब नर-तनु धरना कैसे कहा? नित्य साकेत विहारीरूप नित्य एकरस किशोर रहता है और यहाँ वह शरीर छोटा-बड़ा देख पड़ता है अर्थात् बाल-कुमार-किशोर आदि अवस्थाएँ इसी शरीरमें दिखायी हैं। इसीसे नरतन धरना कहा। यहाँतक परस्वरूप कहा। आगे अन्तर्यामीस्वरूपको कहते हैं।

पंजाबीजी—*'चिदानंदमय'''* इति।—*'बिगत बिकार'* देहका विशेषण है अर्थात् देह सच्चिदानन्दरूप और जन्ममरण आदि विकारोंसे रहित है अथवा इसे अधिकारीका विशेषण मान लें अर्थात् कामादिक विकारोंसे रहित जो भक्त हैं वे आपको जानते हैं। यह सगुण स्वरूप कहा। फिर क्षत्रिय राजारूप कहते हैं—*'नर तन'''।'* (प० प० प्र० स्वामी भी इसे दीपदेहलीन्यायसे दोनोंका विशेषण मानते हैं। जो विगत-विकार होगा वही मर्म जान सकता है। *'षट बिकार जित अनघ अकामा'* संतलक्षण श्रीमुखवचन है। विगत-विकारको जाननेके लिये विगत-विकार बनना ही चाहिये)।

वि० त्रि०—*'चिदानंदमय'''* इति। आपकी देह जीवके देहकी भाँति पाञ्चभौतिक नहीं है। **'शीर्य्यते इति शरीरम्'** यह न्याय यहाँ नहीं लगेगा। आपका देह विगत-विकार है। उसमें देह-देही भेद नहीं है। वह परिच्छिन्न दिखायी पड़ता हुआ भी अपरिच्छिन्न है, शरीर धारणके पहिले जैसा सच्चिदानन्दरूप था, इस समय भी ठीक वैसा ही है, मायासे मानुषरूप मालूम हो रहा है, यथा—**'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ'** यही आपका दिव्य जन्म है। परन्तु इस बातको अनधिकारी मूढ़ लोग नहीं जान सकते। **'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥'** (गीता ९। ११) मैंने मनुष्यका शरीर धारण किया है। इससे मूढ़ मेरा अनादर करते हैं। मेरे लोकमहेश्वर परम भावको वे नहीं जानते।

☞ मिलान कीजिये—**'अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।'** (भा० १०। १४। २) ब्रह्माजी कहते हैं कि आपका यह श्रीविग्रह आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् प्रसाद है। मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पञ्चभूतोंकी रचना है। यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है।—**'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य'** ही 'चिदानन्दमय' 'इच्छामय' है।

टिप्पणी—४ *'नरतन धरेहु'''* इति। अर्थात् जैसे मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह आदि तन धारण किये वैसे ही अबकी संतों-देवताओंके लिये मनुष्य तन धारण किया। आप हैं तो दिव्य, पर आप जो कुछ कहते-करते हैं वह वैसा ही कहते-करते हैं जैसा प्राकृत राजा कहते-करते हैं; पर आप प्राकृत हैं नहीं। (नरतन धरनेका भाव ऊपर बाबा हरिहरप्रसादकी टिप्पणीमें देखिये। बालकाण्ड दोहा १५२ (१) *'इच्छामय नरबेष सँवारे'* में विस्तारसे लिखा जा चुका है वहाँ देखिये।)

टिप्पणी—५ *'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़''''* इति। आँखोंसे देखकर, कानोंसे सुनकर जड़

(मूर्ख) मोहको प्राप्त होते हैं, यथा—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥'* (७। ७३) और पण्डित, बुद्धिमान् सुखी होते हैं। जैसे जगत् तो एक है पर लोभी उसे धनमय, कामी नारिमय और धीर भगवत्-मय देखते हैं, वैसे ही आपके चरितका विषय है। मूर्ख आपको प्राकृत मनुष्य मानते हैं, पण्डित संतोंके सुख देनेके लिये लीला मानते और उसीमें पगकर सुखी होते हैं। अन्यत्र भी कहा है—*'उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥'* (३ मं० सो०) *'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला॥'* (१। ११३। ८) यही मत भुशुण्डीजीका है जैसा *'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* (७। ७३। १) से स्पष्ट है। जिसे यहाँ *'बुध'* कहा है उसे वहाँ पण्डित, मुनि, सुर और जन कहा है। जिन्हें यहाँ *'मूढ़'* कहा है, उन्हींको अन्यत्र विमूढ़ और दनुज कहा है। अथवा *'बुध होहिं सुखारी'* यहाँ कहा वैसे ही *'जन सुखकारी'* उत्तरकाण्डमें कहा। इस तरह बुध (=भगवद्भक्त और पण्डित मुनि) को वैराग्य होता है।

नोट—*'तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा'''* इति। एक भाव अर्थमें ऊपर लिखा गया। और भाव ये हैं—(क) *'सब साँचा'* अर्थात् चारों पदार्थोंका देनेवाला है अतएव सत्य है। (पं० रा० कु०) (ख) *'तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा'* का भाव कि आपने मनुशतरूपाको वरदान दिया था कि *'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'*, पुनः ब्रह्मादिकसे भी कहा था कि *'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥'* (बा० १८७), उसे आप सत्य कर रहे हैं। (पं०)

यहाँतक तीनोंके स्वरूप कहकर आगे क्रमसे तीनोंके स्थान कहते हैं। निर्गुणका स्थान दोहा १२७ में कहा है।

दो०—पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावउँ ठाउँ॥ १२७॥
सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥ १॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिय-रस बोरी॥ २॥

अर्थ—आपने मुझसे पूछा कि कहाँ रहूँ और मैं (यह) पूछते सकुचाता हूँ जहाँ कि आप न हों वह स्थान बता दीजिये तो मैं वही स्थान दिखा दूँ (कह दूँ)॥ १२७॥ मुनिके प्रेमरसमें साने हुए वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी सकुचाकर मनमें हँसे॥ १॥ वाल्मीकिजी हँसकर फिर मीठी, अमृतरसमें डूबी हुई वाणी बोले॥ २॥

वि० त्रि०—*'पूँछेहु''ठाउँ'* इति। आप तो ब्रह्म हैं, जीवका अभिनय करते हैं और ऐसा सच्चा अभिनय कर रहे हैं कि आपको मुझसे यह पूछनेमें सङ्कोच नहीं है कि 'मैं कहाँ रहूँ' पर मैं तो जीव हूँ, अभिनय नहीं कर रहा हूँ; पर जानता हूँ कि आप सर्वत्र समानरूपसे व्यापक हैं अतः मुझे सङ्कोच हो रहा है कि आपसे कैसे पूछूँ कि पहिले आप वह जगह बताइये जहाँ आप न हों, तो वही जगह मैं बतला दूँ कि आप वहाँ रहिये।

प० प० प्र०—भाव कि आप एकदेशीय तो हैं नहीं। यदि मैं कहूँ कि अमुक स्थानपर रहिये तो आपमें देश परिच्छेद-दोष लगेगा। इस वाक्यसे अवतार-रहस्य खोल दिया गया। स्मरण रहे कि उस स्थानपर और कोई मुनिगण नहीं हैं। इस कथनमें गूढ़ भाव यही है कि आपने जो नाट्य आरम्भ किया है उसे आप पूर्णरूपेण निबाह रहे हैं।

नोट—१ *'मैं पूँछत सकुचाउँ'*। सकुच यह कि पूछनेमें आपकी बातका खंडन होता है, वादी-प्रतिवादी कहाऊँगा। (ख) *'जहँ न होहु'*—भाव कि अन्तर्यामी व्यापकरूपसे आप सर्वत्र हैं ही। यहाँ किया हुआ प्रश्न ही उत्तर भी है। अतः यहाँ 'चित्रोत्तर' अलङ्कार है। अ० रा० में भी यह प्रसङ्ग है। मिलान यहाँ दिया जाता है।

अध्यात्म-रामायण सर्ग ६	मानस
राघवः प्राञ्जलिः प्राह वाल्मीकिं विनयान्वितः॥ ४९॥	***तब कर कमल जोरि रघुराई। बोले*···।'** (१२५। ६)
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य	***तात बचन***
भवन्तो यदि जानन्ति किं वक्ष्यामोऽत्र कारणम्॥ ५०॥	***तुम्ह त्रिकालदरसी मुनि नाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'*** (१२५। ७)
यत्र मे सुखवासाय भवेत्स्थानं वदस्व तत्॥ ५०॥ **सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम्।**	***अब जहँ राउर आयसु होई। अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥'''बास करौं कछु काल कृपाला।'*** (१२६। २—६)
त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम्। **तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि॥**	***मैं पूछत सकुचाउँ। जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥'*** (१२७)

उपर्युक्त मिलानसे मानसके शब्दोंकी भावोत्कृष्टता प्रेमी पाठक स्वयं देख लेंगे। मानसके ***'पुनि मातु हित'*** दोहा (१२५ से ***'भूसुर रोषू'*** १२६। ४) तक, ***'सहज सरल सुनि रघुबर बानी'*** (१२६। ७) से ***'पूँछेहु मोहिं कि रहौं कहँ।'*** (१२७) तक, ये वाक्य अ० रा० में नहीं हैं। शेष दोहा १२७ की जोड़के श्लोकका अर्थ है कि आप सम्पूर्ण प्राणियोंके एक मात्र उत्तम निवासस्थान हैं और सब जीव भी आपके निवास-गृह हैं। अब पाठक देखें क्या श्लोक मानसके दोहेको पा सकता है?

नोट—२ ***'सुनि मुनि बचन'''*** इति। (क) ***'साधु-साधु बोले मुनि ग्यानी'*** उपक्रम है। ***'सुनि मुनि बचन'*** उपसंहार है। सब वचन प्रेमसे सराबोर हैं। वाणी मधुर है, अमृतमय है, प्रेमभक्तिमय है। (ख) ***'सकुचि राम मन'''*** इति। प्रभु ऐश्वर्य गुप्त रखकर अवतारका कार्य करना चाहते हैं, यथा—***'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गए जान सब कोइ।'*** और मुनि उसे खोलते हैं, अतः मुस्कुराये। दूसरे, अपनी प्रशंसा सुनकर बड़े लोगोंको संकोच होता ही है। और ऐश्वर्यकी प्रशंसा भी यथार्थ ही की गयी है, इसका उत्तर क्या दें, अतः चुप रहे, यथा—***'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।'*** (वि० १६४) (पु० रा० कु०) पुनः, मनमें मुस्काने कि प्रेमियोंसे बस नहीं चलता (वै०)। सरकार मनुष्यका अभिनय करते हुए ऐश्वर्यको ऐसा छिपा रहे हैं कि कोई जान न पाये। सर्वसाधारणसे तो वह छिप जाता है पर जहाँ स्वरूपको जाननेवाले मुनिसे काम पड़ जाता है और वे सहज स्वरूपकी कथा कहने लगते हैं, वहाँ अपनी प्रशंसा सुनकर सङ्कोच भी होता है, यथा—***'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवट मीत कहे सुख मानत बानर-बंधु बड़ाई॥'*** और भेद खुल जानेपर मुस्कराते भी हैं। वाल्मीकिजीको बड़ा मान भी रहे हैं, उनके वचनोंपर मुसकुराना उनका अनादर है, अतः ***'मनमहँ मुसुकाने'।*** वस्तुतः वाल्मीकिजीके प्रश्नका उत्तर नहीं है। (वि० त्रि०) (ग) यदि ***'सकुचि'*** शब्द न होता तो ***'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'*** यह कथन श्रीरामजीपर लागू होता है। हँसनेका कारण मुनिका प्रेमरस है, यथा—***'मन बिहँसे रघुबंस मनि प्रीति अलौकिक जानि।'*** (प० प० प्र०) (घ) मुस्कुराना ज्ञानी मुनिका ज्ञान और प्रेम देखकर प्रसन्नता होना सूचित करता है। (रा० प्र०) वा भगवान्का हास माया है, तुरन्त मनुष्यको मोहमें डाल देती है—'**हासो जनोन्मादकरी च माया।**' किंतु महर्षिपर तो वह माया चलनेसे रही; अतः मनमें ही मुस्कराकर प्रभु रह गये। (श्रीचक्रजी)

नोट—३ ***'बालमीकि हँसि'''*** इति। मुनिका हँसना यह कि अच्छा लीजिये, मुझे याद आ गया कि आप कहाँ नहीं हैं अब मैं वही स्थान बताता हूँ, सुनिये। इससे जाना कि आप वहाँ नहीं हैं यदि आप वहाँ होते तो वे तरसते क्यों? इत्यादि। पंजाबीका मत है कि संकोची स्वभाव देखकर प्रसन्न हुए। पुनः अभी संतोंके हृदयमें आपका स्थान बताना है इसलिये हँसे कि अभी और सुनिये, आप इतनेहीमें सकुच रहे हैं। श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि महर्षि हँस पड़े कि प्रभो! आप अपार करुणावरुणालय हैं। कहीं आपकी माया मुझे मोहित न करे, इसलिये वात्सल्यवश आप खुलकर हँसतेतक नहीं। अच्छा अब मैं

आपको रहनेके स्थान बतलाता हूँ। (निर्विशेषरूपसे तो) आप सर्वव्यापक हैं, सर्वरूप हैं और अन्तर्यामीरूपसे सभी जीवोंके हृदयमें रहते हैं। किंतु सविशेष निखिल सौन्दर्य माधुर्यैकधाम अपने इस दिव्य साकाररूपसे स्वयं कृपा करके किसी भाग्यवान् अपने अनन्य भक्तके हृदयको ही आप पवित्र करते हैं। विश्वेश्वर! आपने इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डको बनाया और फिर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये; किंतु मैं दूसरे चतुर्दश भवन बता रहा हूँ। अब अपने इस नील सुन्दर धनुर्धररूपसे छोटे भाई लक्ष्मणजी तथा महारानी श्रीजानकीजीके साथ आप मेरे बताये इन भवनोंमें निवास करें।

नोट—४ *'बानी मधुर अमियरस बोरी'* इति।—मधुरताके सम्बन्धसे अमियरस-बोरी कहा; कैसी मीठी है जैसे अमृत हो। अथवा प्रेममय होनेसे अमियरस सानी कहा। भाव यह है कि प्रेमपूर्वक वचन कहे; वे शुष्क ज्ञानी नहीं हैं। *'बहोरी'* को दीप-देहली माननेसे *'अमियरस बोरी'* का अर्थ 'प्रेमरस सानी' होता है। जिसे 'प्रेमरस' कहा था उसीको *'अमियरस'* कहा है।

'चौदह-स्थान' (मेंसे प्रथम-स्थान)

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लषन समेता॥ ३॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ ४॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥ ५॥

अर्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी! सुनिये। अब स्थान बताता हूँ जहाँ आप श्रीसीता-लक्ष्मणसमेत निवास करें॥ ३॥ जिनके कान समुद्रके समान आपकी कथारूपिणी अनेक सुन्दर नदियोंसे सदा (रात-दिन बिना अन्तर वा बीचके) भरते ही रहते हैं पर पूर्ण (कभी) नहीं होते अर्थात् जिनकी श्रद्धा कभी भी नहीं घटती, बराबर बनी ही रहती है,उनके हृदय आपके लिये सुन्दर घर हैं॥ ४-५॥

नोट—१ यहाँ वाल्मीकिजीने १४ स्थान बताये हैं। ये प्रभुकी प्राप्तिके चौदह साधन हैं, या यों कहिये कि ये १४ प्रकारकी भक्तियाँ हैं। प्रथम ही, स्थान बतानेके पूर्व ही कहा है कि *'जहाँ बसहु सिय लषन समेता'* और आगे कहीं तीनोंका बसना, कहीं दोका और कहीं अकेले श्रीरामजीका ही बसना कहा गया है। जिससे सम्भव है कि यह समझा जाय कि जहाँ एकको कहा वहाँ एकहीका वास होगा, जहाँ दो वहाँ दोका ही। अतएव पूज्य कविने आदिमें ही तीनोंका बसना कहकर इसके अनुरोधसे चौदहों स्थानोंमें इन तीनोंका निवास जना दिया है; और आगे जहाँ जिस छन्दमें जितने नामोंकी समायी देखेंगे उतने ही नाम देंगे, परंतु सब स्थानोंमें (प्रथमके अनुरोधसे) तीनोंको समझ लेना होगा। (प्र० सं०) पूर्व कहा था कि *'जहँ न होहु तहँ…'* अर्थात् आप सत्तामात्र व्यापक रीतिसे सर्वत्र हैं, अब जहाँ मैं कहता हूँ वहाँ मूर्तिमान् होकर बसिये। इसीसे कहा कि *'जहाँ बसहु सिय लषन समेता।'* (पं० रामकुमारजी)

नोट—२ व्यापक अव्यक्त ब्रह्मके हृदयमें रहते हुए भी जीवके दुःखी रहनेका कारण मोह है। इस मोहनिशामें जीव सो रहा है। *'जानिय तबहि जीव जग जागा जब सब बिषय बिलास बिरागा।'* लक्ष्मणजी वैराग्यरूप हैं। हृदयमें उनका निवास होनेसे जागृति होगी। अतः लक्ष्मणजीके सहित बसना कहा। पर वैराग्य भी तो अग्नि ही है। अतः क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी शान्ति भक्ति श्रीसीताजीके सहित बसना कहा। (प० प० प्र०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—जब श्रीरामजीने मुनिके वचनका कुछ उत्तर न दिया, चुप रहे। तब उत्तर न पाकर मुनिजी कहते हैं कि स्थान तो ऐसा नहीं है जहाँ आप न हों, पर इस भाँति अव्यक्तरूपसे रहनेसे भक्तोंको कोई विशेष लाभ नहीं है। यथा—*'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* व्यक्तरूपसे रहनेके लिये मैं निकेत (घर) बतलाऊँगा। यहाँपर घर बतलानेके व्याजसे मुनिजी सम्पूर्ण रामायण कह गये। मुनिजीने १४ प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है और दो-दो प्रकारके भक्तोंका वर्णन क्रमसे सातों काण्डोंमें है। भक्त और भगवान्का वर्णन दो नहीं है, भक्तके वर्णनमें भगवान्का वर्णन न होगा तो और क्या होगा?

बालकाण्डके पूर्वार्धमें पहिले प्रकारके भक्तका वर्णन, उत्तरार्धमें दूसरे प्रकारके भक्तका वर्णन, अयोध्याकाण्डके पूर्वार्धमें तीसरे प्रकारके भक्तका वर्णन, उत्तरार्धमें चौथे प्रकारका वर्णन। इसी भाँति सातों काण्डोंमें देखते चले जाइये।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—(क) नवधा भक्तिके वर्णनमें चाहे आप 'श्रवण-कीर्तन' मेंसे 'श्रवण' को प्रथम भक्ति मानें या *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'* कहें, तात्पर्य दोनोंका एक ही है। संतोके समाजमें बराबर भगवद्गुणानुवाद होता रहता है। यथा—'**सतां प्रसङ्गान्‌ मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।**' (भा० ३। २५। २५) (ख) अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थके लिये कहे गये हैं। इनमें भी अर्थ और धर्म कोई स्वतन्त्र पुरुषार्थ पुरुषके नहीं है। अर्थ स्वयं प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन या तो कामनाओंकी तृप्तिके लिये है या धर्मके लिये। इसी प्रकार धर्मका प्रयोजन भी या तो स्वर्ग सुखरूप लोकान्तरमें कामनाओंकी प्राप्तिके लिये है या अन्तःकरणकी शुद्धि करके मोक्षका हेतु बननेके लिये। स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं काम और मोक्ष। इनमें काम पतनका कारण है उसमें तृप्ति नहीं है। केवल क्लेश, श्रम और अशान्ति ही उसमें है। जो भी विचारशील होगा उसे मानना पड़ेगा कि मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ केवल मोक्ष है। मोक्षकी प्राप्ति होती है चित्तकी पूर्णतः शुद्धि होनेपर। वैसे तो चित्तशुद्धिके अनेक साधन हैं; किंतु भगवत्कथाश्रवण-जैसा सुगम साधन दूसरा कोई भी नहीं है। यथा—'**पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्। पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥**' (भा० २। २। ३७) जो सत्पुरुष अपने कानोंके द्वारा भगवान्‌की कथारूप अमृतका पान करते हैं, उनका विषयोंसे दूषित चित्त पवित्र हो जाता है और वे भगवान्‌के चरणकमलोंके पास पहुँच जाते हैं। वह पुरुष तो पशुओंमें भी कुत्ता, विष्ठाकीट, ग्रामसूकर, ऊँट या गधा है, जिसके कानोंमें भगवान्‌का मङ्गलमय नाम नहीं पहुँचा। यथा—'**श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥**' (भा० २।३।१९)

पु० रामकुमारजी—१ (क) नवधाभक्तिमें श्रवणभक्ति प्रथम है। यथा—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' (भा० ७।५।२३) (प्रह्लादजीके वाक्य हैं), *'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।'* (३।१६।८) अतएव प्रथम श्रवणभक्तिसे ही प्रारम्भ किया। (ख) *'जिन्हके श्रवन समुद्र''गृह रूरे'* इति। कानपर समुद्रका आरोप हुआ अतः कथाओंपर अनेक सुन्दर बड़ी-बड़ी नदियोंका आरोप किया गया। अनेकों नदियाँ दिनरात बहकर समुद्रमें जाती हैं पर वह कभी अघाता नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता कि वह परिपूर्ण भर गया, अब उसको जल न चाहिये। वैसे ही करोड़ों प्रकारके आपके चरित *'रामायन सतकोटि अपारा'* कानसे जो नित्य सुनते हैं पर कभी तृप्त नहीं होते, यह कभी नहीं कहते कि बस बहुत हो चुका अब न सुनेंगे, जो ऐसे गम्भीर, अलोभ हृदयके हैं, उनके हृदय सुन्दर घर हैं। सुभगसे पवित्र और बड़ी नदियोंसे तात्पर्य है जो समुद्रतक जाती हैं। *'गृह रूरे'* अर्थात् जो कुछ भी चाहिये वह सभी पदार्थ उसमें मौजूद हैं। (*'श्रवन समुद्र समाना'* में गम्भीरता धर्म लुप्त होनेसे 'धर्मलुप्तोपमा' है)। कथा-सरितमें रूपक अलङ्कार है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना'* इति। समुद्र कभी अस्वीकार नहीं करता किसी छोटी नदीको अपनेमें मिलानेसे। नदी छोटी हो या बड़ी, उथली हो या गहरी, आती जाय या मिलती जाय, न वहाँ 'ना' है, न बस है। ऐसे ही जो नहीं देखते कि वक्ता विद्वान् है या नहीं, कथाकी भाषा लच्छेदार है या नहीं, हँसाने रुलानेकी कला है या नहीं, कथामें जिन्हें यह आग्रह भी नहीं कि भगवान्‌के अमुक अवतारकी कथा हो, और अमुककी नहीं। केवल भगवान्‌की कथा हो, सांसारिक वार्ता न हो-बस; फिर जिनके कान बराबर सुननेको प्यासे रहते हैं, जिन्हें न आलस्य आता और न ऊबना आता, जो सुनना चाहते हैं—बराबर सुननेको उत्सुक रहते हैं, कोई बालक-वृद्ध, विद्वान्-मूर्ख, पढ़ा-अनपढ़ा उन्हें भगवान्‌की कथा भर सुनावे। ऐसे श्रवननिष्ठ भक्तोंके हृदय ही श्रीरामके सुन्दरतम सदन हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रवणकी ऐसी उत्कट निष्ठा आदिराज महाराज पृथुमें वर्णित है। वे भगवान्‌से वरदान माँगते हुए प्रार्थना

करते हैं—'**न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥**' (४। २०। २४)

मेरे स्वामी! मुझे ऐसी किसी वस्तु या स्थानकी कामना नहीं जहाँ आपके श्रीचरणोंसे झरता वह अमृत जो महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखके द्वारा निकला न करता हो अर्थात् जहाँ सन्त सत्पुरुष निरन्तर आपके अमृतरूप लीलाचरितोंका वर्णन न करते हों। प्रभो! आपकी वह अमृतमय कथा सुननेके लिये मुझे एक सहस्र कान (मेरे कानोंमें सहस्र कानोंकी शक्ति) दे दीजिये, यही वरदान चाहिये मुझे!

प० प० प्र०—(क) *'कथा तुम्हारि'* अर्थात् सगुण रूपके चरित्र। निर्गुणकथा नहीं होती। अकथकी कहानी होती है। यथा—*'सुनहु तात यह अकथ कहानी'।* (ख) *'सुभग सरि'* इति। नदीकी सुन्दरता केवल बाह्य सौन्दर्यपर निर्भर नहीं रहती। सुभग सरितामें क्या गुण होने चाहिये यह बालकाण्ड मानस-प्रकरणमें (*'चली सुभग कबिता सरिता सो।'* (३९। ११ से दोहा ४३। १ तक) वर्णन किया गया है और रामकथा सरितामें ये गुण किस प्रकार रहते हैं यह भी वहाँ साङ्गरूपकद्वारा वर्णित है। (ग) *'गृह रूरे'* इति। **रूरे**=सुन्दर शुद्ध सात्त्विक। समुचित गृहमें कौन-कौन गुण होने चाहिये यह आगे सदन सुखदायक, शुभ सदन, आदि शब्दोंसे सूचित किया है। (घ) पञ्चज्ञानेन्द्रियोंमेंसे श्रवणेन्द्रियमात्रका ही उपयोग करके प्रेमाभक्ति और श्रीसीतारामलक्ष्मणका हृदयमें निवास प्राप्त किया जा सकता है यह यहाँ बताया।

वि० त्रि०—बालकाण्डके पूर्वार्धमें मुख्य श्रोता भरद्वाज और उमाका वर्णन है। इन्हींके प्रश्नपर पूरी रामायण कही गयी, पर पूर्वार्धमें इन्हींकी प्रश्न-सम्बन्धी बातें हैं। इनकी तृप्ति कथा सुननेसे नहीं होती। यथा—*'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥'* (७। ५२) ये दोनों प्रथम प्रकारके भक्त हैं।

भरद्वाजजीकी कथापर बड़ी लालसा बढ़ी। वे कथामें ऐसे लीन हुए कि कोई प्रश्न भी नहीं किया। ग्रन्थकी समाप्तिपर न तो भरद्वाजजीकी कृतज्ञता-प्रकाश है, न याज्ञवल्क्यजीकी बिदाई है। इससे सिद्ध हुआ कि दोनों महात्मा यावज्जीवन कथा कहते-सुनते रह गये, तृप्ति न हुई। उमाकी तृप्ति न हुई यह उन्होंने स्वयं कहा है।

नोट—३ ☞इस निकेतनका वर्णन करके जनाया कि कानोंके सफल होनेका यही साधन है। इनका सदुपयोग निरन्तर श्रीरामचरित-श्रवण ही है अन्यथा ये सर्पके बिलके समान हैं। यथा—*'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥'* (१। ११३। ३) (विशेष १। ११३। ३ में देखिये)। आगे नेत्रोंकी सफलता कहते हैं। भगवान्के दर्शनके लिये ही नेत्र बनाये गये हैं। उन्हींके दर्शनसे वे सफल होते हैं। यथा—*'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥'* (७। ७५। ६) नहीं तो वे मोरपंखके समान देखनेभरके हैं पर व्यर्थ हैं, यथा—'**बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षते ये।**' (भा० २। ३। २२)

नोट—४ सदा भरते रहनेपर भी *'होहिं न पूरे'* में 'विशेषोक्ति अलङ्कार' है। *'समुद्र***'पूरे'* में 'दृष्टान्तका भाव है।

गौड़जी— श्रीमद्भागवतमें नवलक्षणाभक्ति इस प्रकार बतायी है—'**श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' और मानसकारने शबरीके प्रति श्रीमुखसे ही और ही नव प्रकार कहलवाये हैं। इन प्रकारोंमें एक-दूसरेका अन्तर्भाव भी होता है। शबरीके प्रसङ्गमें (१) सत्सङ्ग, (२) कथामें रति, (३) मानरहित गुरुभक्ति, (४) कीर्त्तन, (५) जप, भजन, (६) सन्तवृत्ति, (७) अनन्यवृत्ति, (८) संतोष-वृत्ति और (९) भगवदवलम्ब, ये नौ प्रकार कहे गये हैं। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, दास्य इन चारोंका अन्तर्भाव क्रमशः कथामें रति, कीर्तन, जप-भजन तथा अनन्य-वृत्ति, इन चारोंमें हो जाता है, अन्तर्भूतको एक ही बार जोड़ें तो कुल १४ प्रकारकी भक्ति होती है। यह प्रकार भी भक्तोंके स्वभाव और वृत्तिके अनुसार रखे गये हैं, अतः एक-दूसरेमें आंशिक अन्तर्भाव तो अवश्य ही है। शायद ही कोई भक्त ऐसा हो जिसमें एक ही

प्रकारकी भक्ति हो और दूसरे किसी प्रकारका सर्वथा अभाव हो। श्रीमद्भागवतमें उन्नीस वर्गोंमें भक्तिके अनेक प्रकार बताये हैं। शाण्डिल्य और नारदके सूत्रोंमें यथा हरिभक्तिविलासमें भी अगणित प्रकारोंका वर्णन है। तीनों गुणोंको लेकर वा उत्तम, मध्यम आदि विभाग करके भारी विस्तार किया गया है। वाल्मीकिजीने जो १४ स्थान बताये हैं, उनमें भक्तिके प्रायः सभी प्रकारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। (१) *'जिन्हके श्रवन''रूरे',* यह '**श्रवणम्**' हुआ (२) *'लोचन'''रघुनायक'।* (१२७। ६। ८) यह 'रूपासक्ति, दर्शनाभिलाषा वा विरहासक्ति' हुई (जो भक्तिका एक परममहत्त्वशालीरूप है)। (३) *'जस तुम्हार'''तासु।'* (१२८) यह '**कीर्तनम्**' हुआ। (४) ***'प्रभु प्रसाद''मनमाहीं।'*** (१२९। १-५) यह 'पूजासक्ति' हुई। (५) *'मंत्रराज''दोउ।'* (१५९। ६-१२९) यह 'नामासक्ति' हुई। (१३०। १-२) इसमें गुरुभक्ति आदि भी शामिल हैं। (६) *'काम'''रघुराया।'* (१३०। ३। ५) यह हुई 'ज्ञानवृत्ति'। (७) ***'सबके''मनमाहीं*** (१३०। ३-५)।' यह हुई 'भगवदवलम्बवृत्ति'। (८) *'जननी''तुम्हारे।'* (१३०। ६-८) यह संतवृत्ति हुई। (९) *'स्वामि''भ्रात।'* (१३०) यह 'सर्वस्वभाव' हुआ। (१०) *'अवगुन''नीका।'* (१३१। १-२) यह 'तितिक्षावृत्ति' हुई। (*'गुन'''वैदेही'* (१३१। ३-४) यह 'कार्पण्य-वृत्ति' हुई। (१२) *'जाति''रघुराई।'* (१३१। ५-६) यह 'वैराग्य-वृत्ति' हुई। (१३) *'सरग''डेरा।'* (१३१। ७-८) यह 'अनन्य-वृत्ति हुई। (१४) *'जाहि'''गेहु।'* (१३१) यह 'शुद्ध प्रेमाभक्ति' हुई। आगे चलकर टीकामें प्रत्येक स्थानकी पूरी व्याख्या दी गयी है।

नोट—५ अध्यात्मरामायण अ० सर्ग ६ श्लोक ५१ से ६३ तकमें भी वाल्मीकिजीका इसी प्रकारसे स्थान बताना लिखा है। पर वे मानससे कम मिलते हैं।

(दूसरा स्थान)

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ ६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होंहि सुखारी॥ ७॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥ ८॥

अर्थ—जिन्होंने अपने नेत्रोंको चातक बना रखा है और आपके दर्शनरूपी मेघोंके लिये सर्वदा लालायित (इच्छुक, चाहनेवाले) रहा करते हैं॥ ६॥ बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्रों और तालाबोंका निरादर करते हैं और आपके रूपदर्शनरूपी बूँदभर जलसे ही सुखी होते हैं॥ ७॥ उनके हृदय सुख देनेवाले घर हैं। हे रघुनायक! आप भाई और सीतासहित उनमें बसिये॥ ८॥

नोट—१ (क) चातककी अनन्यता गोस्वामीजीने सतसई और दोहावलीमें गायी है। उसीसे यहाँ अनन्यभक्तोंका रूपक बाँधा गया है। चातककी अनन्यवृत्तिसूचक कुछ दोहे ये हैं—

गंगा जमुना सरसुती सात सिंधु भरि पूरि। तुलसी चातक के मते बिना स्वाति सब धूरि॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक। तुलसी परी न चाहिये चतुर चातकहि चूक॥ २८२॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर। चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥ २८३॥
तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के साथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥ २८८॥
जीव चराचर जहँ लगे है सबको हित मेह। तुलसी चातक मन बस्यो घन सो सहज सनेह॥ २९४॥
बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच। तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥ ३०२॥
तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बार ही बार। तात न तर्पन कीजियो बिना बारिधर धार॥ ३०४॥
उष्नकाल अरु देह खिन मगपंथी तन ऊख। चातक बतियाँ ना रुची अन जल सींचे रूख॥ ३१०॥

प० पु० पातालखण्डमें चातकवृत्तिपर पं० श्रीकान्तशरण यह श्लोक कहते हैं-'**आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधिं द्विज। सरः समुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा॥ तृषितो म्रियते वापि याचते वा पयोधरम्।**' इन उद्धरणोंसे चातककी अनन्यता भलीभाँति समझमें आ जायगी। विशेष दोहावली आदिमें देखिये। यह गङ्गा-यमुना-सरस्वती आदि पावन नदियों, मानस-सरोवर आदि तालाबों और सप्त समुद्रोंतकके जलका घोर निरादर

करके शरद् ऋतुके स्वातिजलके एक बूँदमात्रको ग्रहण करता है। वैसे ही आपके अनन्यभक्त समस्त स्वर्गादितकका ऐश्वर्य ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिरूपिणी सरिताओं, अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म तथा अन्य सगुण स्वरूपों और अन्य देवोपासनारूपी समुद्रों और कर्मज्ञानादि नाना धर्मोंरूपी तालाबोंको छोड़कर केवल आपके निमिषमात्रके दर्शनरूपी स्वातिबूँदके प्यासे बने रहते और उसीसे तृप्त होते हैं। (ख) इस स्थानमें 'विरहासक्ति' प्रकारकी भक्ति कही गयी है। मिलान कीजिये—*'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। रामरूप स्वाती जलद (एक राम घनश्याम हित।* दोहावली २७७)' *चातक तुलसीदास॥* वै० सं०।', *'जानकीजीवनकी बलि जैहौं। रोकिहैं नयन बिलोकत औरहि सीस ईसही नैहौं'' ॥'* इति विनये। 'तुम ओर हमारी *लखो न लखो हमें रूप पयोनिधि थाहने हैं'* (दीनजीकृत)। *'सखा प्रिय नृपद्वार ठाढ़े बिपुल बालक बृन्द॥ तृषित तुम्हारे दरसकारन चतुर चातक दास। बपुष बारिद बरषि छबिजल हरहु लोचन प्यास।'* (गी० १।३८) *'बलि साँवरी सूरति मोहनी मूरति आँखिन को तनि आइ दिखावो। चातकि सी मरैं प्यासी परी इन्ह पापिन्ह रूपसुधा निज प्यावो॥'*

नोट—२ इस विरहासक्ति प्रकारकी भक्तिके मनुशतरूपाजी और सुतीक्ष्णजी उदाहरण हैं, यथा—*'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥ ''देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।'* त्रिदेवकी ओर देखातक नहीं यह अनन्यता। पुनः परम प्रभुके दर्शनकी एकमात्र चाह थी उसको पाकर भी पूर्ण सुखी नहीं हुए बल्कि निरन्तर पानेकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌को ही पुत्ररूपमें माँगा। और इसी प्रकार सुतीक्ष्णजीने चतुर्भुजरूपतकका निरादर किया। सुतीक्ष्णजी, कुछ और नहीं तो, अगस्त्यजीके यहाँतक साथ चलनेका ही बहाना करके थोड़ी देरतक और दर्शनका लाभ उठाते रहे। यह दर्शनाभिलाषा और अनन्यता है। *'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ मुनि अकुलाइ उठा पुनि कैसे। बिकल हीनमनि फनिबर जैसे॥'* (३।१०।१७-१८)

नोट—३ वि० त्रि० जी लिखते हैं कि बालकाण्डके उत्तरार्द्धमें श्रीमनु, शतरूपा, महाराज दशरथ, महाराज जनक और विदेहराज समाजसम्बन्धी सब आते हैं। इन सबोंने अपने लोचनोंको चातक बना रखा है और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनसे सुखी हैं।

श्रीमनु-शतरूपाजीका विधि-हरि-हरके प्रलोभनमें न आना सरित-सिंधु-सरका निरादर है। महाराज दशरथके लिये विख्यात है कि *'जियत रामबिधुबदन निहारा। राम बिरह मरि मरन सँवारा॥'* जनक महाराजजी कहते हैं कि *'इन्हहिं देखि मन अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'* पुरवासी कहते हैं—*'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हें स्वबस सकल नर नारी॥ सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ये आवहिं एहि नाते॥'*

नोट—४ उपर्युक्त उद्धरणोंका निष्कर्ष यह है कि जिनके नेत्रोंमें वही प्यास है (श्रीरामकी एक झाँकी पानेके लिये) जो चातकमें स्वातीकी बूँदके लिये होती है, जिनकी प्रतीक्षा चातकके समान निरन्तर चलती है, कभी टूटती या थकती नहीं, जिनका विश्वास कभी डिगता नहीं, जिन्हें कभी निराशा नहीं घेरती, अनेकों कष्ट आनेपर भी जो न तो आराध्यमें दोष देखते और न एक क्षणके लिये भी दर्शनकी प्रतीक्षासे विचलित होते, जिनके मन एवं नेत्रोंको संसारके रूप तो भला खींच ही क्या सकते हैं, आराध्यरूपसे भिन्न भगवान्‌के भी दूसरे रूप खींच नहीं पाते, सफलता शीघ्र हो इस लोभमें स्वप्नमें भी जो इष्टरूप तथा मन्त्रके परिवर्तनकी बात सोच नहीं सकते, वे ही महाभाग ऐसे हैं कि श्रीराम उनके हृदयमें निवास करें। श्रीकोसलराजकुमारको आनन्द देनेवाला सदन तो उनका ही हृदय-मन्दिर है। (श्रीसुदर्शनसिंह)। *'लोचन चातक करि राखे'* में 'द्वितीय निदर्शना' और 'दरस जलधर' में 'रूपक' है।

अ० दी० चु०—यह (प्रेम उपासन) पर उपासनाका सिद्धान्त है जो प्रेमकी बारहवीं सन्तप्त दशा है। यथा—*'साधनशून्य लिए शरणागत नैन रँगे अनुराग निशा है। पावक ब्योम जलानिल भूतल बाहर भीतर रूप बसा है॥ चिंतब नाहमें बुद्धिमई मधु ज्यों मखियाँ मन जाइ फँसा है। बैजसुनाथ सदा रस एकहि या बिधि सो संतप्त दशा है॥'*

* 'निदरहिं सरित सिंधु सर भारी'*

भक्तोंके पक्षमें *'सरित-सिंधु-सर-भारी'* क्या है, इस विषयमें महानुभावोंने अपना-अपना मत प्रकट किया है। सब एकमत नहीं हैं। पं० रामकुमारके मतानुसार ऋद्धि-सिद्ध-सम्पत्ति भारी सरिताएँ हैं, यथा—*'रिधि-सिधि-संपति नदी सुहाई।'* (२।१।३), *'जो आनंदसिंधु सुख रासी'* (निर्गुण ब्रह्म) और *'धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।'* (७।३१।७)

अनन्य भक्तोंने इनका निरादर किया है। इसके उदाहरण इसी ग्रन्थमें मिलते हैं। जैसे—*'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥'* (१८५) ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिका रूपक नदीसे इस काण्डके आदिमें कविने दिया ही है और यह भी दिखाया है कि इनको पाकर भी अवधवासी सुखी नहीं हैं, यहाँ तो *'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंदु निहारी॥'* (२।१।६) यह ऋद्धि-सिद्धि आदिका त्याग है *'बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।'* (१।२१६।५) और यह निर्गुण ब्रह्मरूपी समुद्रका निरादर है *'सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'* (२९१।१) यह धर्म-कर्म-रूपी सरका त्याग है।

मानस-मयङ्ककार कहते हैं कि अपर मतमतान्तर एवं उपासना, ज्ञानादि सरित् सिन्धु-सर हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि अन्य देवी-देवताओंसे सुख-जलकी इच्छा न करना सरितादिका निरादर है। और, बाबा हरिहरप्रसादजी, सांख्य, वेदान्त और योगजनित ज्ञानको सरित् आदि कहते हैं। कोई प्रभुसे भिन्न कर्म, ज्ञान और उपासनाको सर, सरित, सिन्धु कहते हैं—*'करमठ कठमलिया कहे ज्ञानी ज्ञान बिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन॥'* बैजनाथजी लिखते हैं कि ऋषि-मुनि-सिद्ध आदि सर हैं, इन्द्र आदि नदी और अवतार आदि अपर भगवद्रूप समुद्र हैं, इन सबसे मुख फेरे हैं, यह अनन्यता है।

☞ यह सिन्धुके स्थानपर निर्गुण ब्रह्मके अतिरिक्त चतुर्भुज आदि अन्य स्वरूप एवम् त्रिदेव, पञ्चदेव आदि अन्य सबकी उपासना ले लें तो पण्डित रामकुमारजीके भावमें सबके मतोंका भी ग्रहण हो जाता है।

इसपर कहा जाता है कि 'अन्य भगवद्रूप सगुण ब्रह्मकी अवस्था मात्र है और सब देवता अङ्ग हैं। साधककी यह दृष्टि रहनेसे वे अनन्यताके बाधक नहीं होते।' पर जहाँ श्रीहनुमान्‌जी, श्रीलक्ष्मणजी ऐसे अनन्य भक्तोंकी अनन्यता दिखायी गयी है वहाँ शंकरादि अन्य देवताओं, ईश्वरोंकी कौन कहे अन्य भगवद्रूपोंको भी उनकी अनन्यता नहीं सह सकी है। सुतीक्ष्णजी चतुर्भुज रूपको न सह सके। यथा *'भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥'* (३-१०-१७-१८) गोस्वामी तुलसीदाजीका वृन्दावनका चरित्र विख्यात ही है *'ब्रजनाथ भये रघुनाथ'*, तथा—*'जौ जगदीस तो अति भलो जौ महीस बड़ भाग। तुलसी चाहत राम पद जनम जनम अनुराग॥'* इसी अनन्यतासे श्रीमद्‌गोस्वामीजीने अपनेको चातक कहा है।

श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि 'सिन्धुकी उपमामें देवलोककी अप्सराएँ हैं, सरित् सरकी उपमामें मर्त्यलोककी गणिकाएँ तथा अन्य स्त्रियाँ हैं। इनके रूपोंको तुच्छ करके श्रीरघुनाथजीके रूपसे तृप्त होते हैं।'

इन दोनों वाक्योंमें बिना वाचक पदके बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव झलकनेसे यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।'

नोट—५ (क) *'रूप बिन्दु जल'* इति। दर्शनका रूपक मेघसे किया गया है यथा—*'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे'* और यहाँ रूपको बिन्दुजल कहा है। इसका भाव यह जान पड़ता है कि यहाँ रूपकी एक झाँकी, निमिषमात्रके क्षणिक दर्शनसे तात्पर्य है। ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति, ब्रह्मसुख आदि और कर्म-धर्म दर्शन नहीं है; इसीसे उनसे सुखी नहीं होते और न भूलकर उनपर पग धरते हैं। अथवा, मेघ असंख्य बूँदें बरसता है और निरन्तर बरसता है। यहाँ दरसजलधरसे निरन्तर भगवद्दर्शन लाभ अभिप्रेत है।

(ख) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि श्रीरामचन्द्रजीके ही विविध रूप जो मानसमें यत्र-तत्र वर्णित हैं (जैसे कि अवताररूप १। १९२ में, शिशुरूप १। १९९ में, बालरूप १। २०३ में, किशोररूप १। २०९ में; अहल्योद्धारक राम १। २११ में, जनकपुर-निरीक्षक राम १। २१९ में, पुष्पवाटिकानिरीक्षक राम

१। २३३ में, धनुषयज्ञशालाके राजसमाजमें विराजमान रूप १। २४३ में, दूलहरूप १। ३१६ में। इसी तरह मुनिवेषधारी राम, जटायुगतिदाता, शबरीगतिदाता, सुवेल झाँकीवाले राम, सिंहासनासीन राम, इत्यादि इनमेंसे किसी भी एक रूपके लिये तृषित होते हैं और उस रूपका दर्शन पाकर सुखी होते हैं।

(ग) *'हृदय सदन'* में सम अभेद रूपक है। *'सुखदायक'* अर्थात् यहाँ आपके सुखकी सब सामग्री है। यहाँ सुखसागरको भी सुख मिलता है। (घ) यहाँ नेत्र-इन्द्रियका प्रभुमें लगाना, नेत्रेन्द्रिय द्वारा सेवासे प्रभुकी प्राप्ति कही। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि नेत्र जब चातक बन जायँगे, जब दर्शनोंकी उत्कण्ठासे प्राण तड़पने लगेंगे तभी दर्शन होनेमें देर न लगेगी।

(तीसरा स्थान)

दो०—जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ राम बसहु हिय तासु॥ १२८॥

शब्दार्थ—**मुकताहल**=मोतियोंका समूह, यथा—*'बिछुरे नभ मुकुताहल तारा।'* (६। १२। ३)

अर्थ—आपके यशरूपी निर्मल मानस-सरोवरमें जिसकी जिह्वा हंसिनीरूप होकर आपके गुणसमूहरूप मोती समूहको चुगती है, हे राम! आप उसके हृदयमें वास कीजिये॥ १२८॥

नोट—१ (क) हंस-हंसिनी मानससरमें निवास करते हैं और मोती चुगते हैं, यथा—*'सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥'* (६०। ५) उसीसे यहाँ रूपक बाँधा है। जिह्वा स्त्रीलिंग है, अतः हंसिनीकी उपमा दी। (ख) यशको मानस कहा, पर यह यश मानससरमें अधिक स्वच्छ, दिव्य, नित्य, अक्षय और अविकृत है। वहाँ मोती बहुत, यहाँ प्रभुके दिव्य गुण धैर्य, गम्भीरता, उदारता, सुशीलता, वात्सल्य, करुणा आदि अनन्त। इन्हीं गुणोंका दिनरात गान, कीर्तन, कथन इत्यादि जिह्वासे करते रहते हैं, यही चुगना है। पंजाबीजी लिखते हैं कि मानस-सरमें अनेक पदार्थ हैं पर हंसिनी मोती ही चुगती है। वैसे ही निगमागममें बहुतसे प्रसङ्ग हैं पर आपके भक्त आपके गुणोंको ही चुनकर ले लेते हैं। यहाँ 'परंपरित रूपक अलङ्कार' है।

पण्डित रामकुमारजी दूसरा भाव यह कहते हैं—*'जस तुम्हार मानस बिमल'* अर्थात् आपका यश मानसके सातों काण्डोंमें है। इसीमें रहकर केवल आपके गुणगणोंको पान करते हैं। यह कीर्त्तन-भक्ति है।

(ग) जिह्वाके दो कार्य हैं, रसज्ञता और भाषण। भगवान्‌के अनन्त गुणोंका रस जानकर उनका कीर्तन करते हैं, इसी रसमें मस्त रहते हैं। जिह्वा रामविमलयशरूपी मानससरमें तैरा करती है और *'जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई'* गूढ़ भावोंको जानकर रसास्वादमें मग्न रहती है। हंसिनी नीर-क्षीर-विवरण-विवेककी निदर्शक है। (प० प० प्र०)

नोट—२ इस काण्डके पूर्वार्धमें दिनरात श्रीरामजीके गुणशील स्वभावकी चर्चा चला करती है। चक्रवर्तीजीको सब समाचार पहुँचा करता है। अतः इन्हीं मुक्ताहल गुणगण चुननेवालोंके विषयकी कथा पूर्वार्धमें है। इस प्रकारके भक्त समुचित अवधवासी हैं, यथा—*'रामरूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥'*, *'सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी॥ सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही।'* इस बातको बहुत स्पष्ट उत्तरकाण्डमें किया है। यथा—*'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥'* (३०। १) से *'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान।'* (३०) तक (वि० त्रि०)।

नोट—३ ☞ यहाँ रसनेन्द्रियमात्रसे प्रभुकी प्राप्ति कही। यह कीर्त्तन-भक्ति है। इस भक्तिके लिये यह भगवद्वाक्य सदा स्मरण रखना चाहिये कि '**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥**' मैं सदैव वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा कीर्तन करते हैं। पर, हाँ! जिह्वाकी हंसिनीके समान 'नीर-क्षीर-विवरण-गति' होनी चाहिये। सांसारिक विषयवार्ताको यथाशक्य सर्वथा छोड़कर एकमात्र श्रीरामगुणगानमें निरन्तर लगी रहनी चाहिये, बिना गुणगानके जिह्वा किसी भी प्रकार रह ही न सके। यह साधन भी अपने-आपमें पूर्ण है, यह दृढ़ विश्वास रहे।

बैजनाथजी इसे 'गोप्तृत्ववर्णन' शरणागति मानते हैं।

नोट—४ ☞रसनेन्द्रियकी सार्थकता बतायी। जिह्वा प्रभुके गुणगानमें लगनेसे ही सुफल होती है, नहीं तो मरे हुए चमड़ेके समान मुँहसे निकाल डालने योग्य है। वह मेंढककी जीभके समान है। यथा—*'जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'* (१। ११३) **'जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥'** (भा० २। ३। २०) आगे अन्य इन्द्रियोंकी सार्थकता बताते हैं।

(चौथा स्थान)

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥१॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥२॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥३॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥४॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥५॥

अर्थ—जिनकी नासिका नित्य आदरपूर्वक आपका प्रसादित पवित्र-सुन्दर-सुगन्ध (इत्र-फूल-माला-तुलसी आदि) सूँघती है॥१॥ जो आपको नैवेद्य लगाकर (वा, आपको भोग लगाया हुआ या अर्पण करके) भोजन करते हैं, आपका प्रसादस्वरूप ही वस्त्राभूषण धारण करते हैं॥२॥* देवता, गुरु और ब्राह्मणको देखकर माथा नवाते और प्रेमसे बहुत विनती करते हैं; अर्थात् दीनतासहित उनकी बड़ाई करते हैं॥३॥ नित्य अपने हाथोंसे श्रीरामजीके (आपके) चरणोंकी पूजा करते हैं† और जिनके हृदयमें श्रीरामजीका ही भरोसा है, दूसरा नहीं॥४॥ चरणोंसे (सवारीपर नहीं) श्रीरामजीके तीर्थोंमें चलकर जाते हैं—'हे राम! आप उनके मनमें बसिये'॥५॥

नोट—१ यह प्रसंग विशेषतः गृहस्थोंमें ही घटित होता है। *'सीस नवहिं'''* यहाँतक अर्चन-वन्दन भक्ति है। *'कर नित करहिं'''* यह पाद-सेवन भक्ति है। ऊपर श्रवण, नेत्र और रसना तीन ज्ञानेन्द्रियोंकी भक्ति कह आये। चतुर्थ भक्तिमें अन्य अष्ट अङ्गों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) से तथा मनसे अर्चन-भक्ति करना कहते हैं। *'लहइ नित नासा'* (नासिका), ***'भोजन करहीं'*** (मुख) ***'पट भूषन धरहीं'*** (त्वचा), ***'सीस नवहिं'*** (सिर), *'कर नित करहिं'* (दोनों हाथ), ***'चरन राम तीरथ चलि जाहीं'*** (दोनों चरण), ***'प्रीति सहित'*** और *'राम भरोस हृदय'* (यह मन वा अन्तःकरण)।

नोट—२ (क) *'प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा'* इति। यहाँ नासिका इन्द्रियकी चर्चा होनेसे सुगन्धित तुलसी, पुष्प, पुष्पमाला, अतर आदिकी सुगन्ध प्रसाद रूपमें अभिप्रेत हैं। प्रसाद, पुष्प, माला आदि जो भगवान्‌पर चढ़ाये वा निवेदित किये हुए होते हैं। निर्माल्य होने वा अर्पित होनेपर वे प्रसाद होते हैं। *'सुचि सुभग'* से बताया कि प्रसाद होनेसे वह पवित्र है, हमको पवित्र करेगा, सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त है, ऐसा प्रभाव जानकर वे उसे ग्रहण करते हैं। स्मरण रहे कि भगवत्-प्रसाद भगवद्रूप है-**'प्रसादं जगदीशस्य ह्यन्नपानादिकं च यत्। ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्॥'** (ख) *'सादर जासु लहइ नित नासा'* इति। सादर अर्थात् प्रसादको मस्तकसे प्रथम लगाकर तब सूँघते हैं। *'नित'* से जनाया कि प्रसाद छोड़ अन्य कुछ नहीं सूँघते हैं। तथा प्रतिदिन भगवान्‌का निर्माल्य प्रसाद नियमसे सूँघते हैं।

---

* विभीषणजी क्या विचारते हैं उससे मिलान कीजिये—'महाराज राम पहँ जाउँगो। सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ ज्यों साहिबहि सुहाउँगो॥१॥ सरनागति सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहि सकुचाउँगो। राम गरीबनिवाज निवाजि हैं जानिहैं ठाकुर ठाउँगो॥२॥ धरिहैं नाथ हाथ माथे एहितें केहि लाभ अघाउँगो। सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो॥३॥ कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो। तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठनि खाउँगो'॥४॥—(गी० सुन्दर ३०)

† बाबा हरिहरप्रसादजी 'कर नित करहिं' का अर्थ यों करते हैं—'पूजा जो नित्य है उसे करते हैं। वा, नित्यकृत शौचादि करके तुम्हारी पूजा नित्य करते हैं। यहाँ प्रतिमा-पूजन कहा।'

टिप्पणी—१ *'तुमहिं निबेदित…'* इति। भाव यह कि कुछ वस्तु भोजनकी मिले उसे प्रभुको अर्पण करे, यथा—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥**' भगवान्‌का भोग लगाकर तब पावे। मधुकर संत मधुकरी स्थानसे लाकर उसका भी भोग लगाते हैं। जो कोई जो कुछ वृत्ति पाता है यदि वह ईमानके धन्धेसे पाता है और अपने मनमें यह दृढ़ भावना रखता है कि मेरी सारी वृत्ति भगवान्‌का प्रसाद है तो वह भी भगवत्प्रसाद या भगवद्‌निवेदित ही भोजन करता है। '**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥**' (यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १)

नोट—३ प्रसादको प्रसादभावसे पाना चाहिये। मालपूआ, पूरी, तस्मई, मोहनभोग, शकरपुङ्गल, लड्डू आदिके भावसे नहीं। प्रसादमें प्रसादका स्वाद अनुभव करे। जहाँ यह विचार हुआ कि इसमें मीठा कम है, नमक नहीं है, इत्यादि तहाँ प्रसादका भाव नहीं रह गया। भगवान्‌को निवेदित किया हुआ पदार्थ जैसा हो वैसा ही पाना चाहिये। ऊपरसे मीठा, रामरस (नमक) आदि मिलानेपर प्रसादका भाव नहीं रहता। यह भी स्मरण रहे कि भगवत्-प्रसाद सदा पवित्र है, वह किसीके स्पर्शसे या जूठा करनेसे भी अपवित्र नहीं होता। ☞स्मरण रहे कि भाव मुख्य वस्तु है। भक्त भगवत्प्रसादके भावसे ग्रहण करता है, अतः उस प्रसादके सेवनसे उसके चित्तमें विषयबुद्धिके बदले भगवद्‌बुद्धि जाग्रत् होती है उसका चित्त शुद्ध होता है और उसे भगवत्प्राप्ति होती है। तभी तो अनेकों भक्तोंको विष भी अमृत हो गया। (ख) *'प्रभु प्रसाद पटभूषन धरहीं'* इति। भगवान्‌का पहना, ओढ़ा, बिछाया, उनकी सेवामें लाया हुआ वस्त्राभूषण प्रसाद है। इसमें भाव यह है कि उत्तम वस्त्राभूषण अपनी विषयवासनाकी पूर्तिके लिये वे कभी नहीं धारण करते। उनका उतरन ही पहननेमें सुख मानते हैं और वह भी प्रभुकी सेवाके लिये ही।

नोट—४ *'सीस नवहिं सुर…'* इति। (क) सुर अर्थात् देवमन्दिरों, देवमूर्त्तियोंको। गुरुमें सद्‌गुरुदेव और सन्त दोनों आ गये। द्विज=विप्र, ब्राह्मण। इन तीनोंको दर्शन होनेपर प्रणाम करते हैं। मस्तक उनके आगे झुकाना चाहिये। खड़े-खड़े प्रणाम, नमस्कार, नमस्ते करना पर्याप्त नहीं है और न केवल हाथ जोड़ना; यह *'सीस नवहिं'* से जनाया। इनको देखकर मस्तक नवाते हैं; क्योंकि हमारे इष्टदेव इन्हींकी रक्षाके लिये ही तो अवतार लेते हैं। यथा—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'* (१। १९२) और स्वयं उनका सदा सम्मान किया है। मानसभरमें उनका सम्मान सर्वत्र देख लीजिये। अतः भक्त उनकी उपेक्षा न करके उनका सदा सम्मान ही करता है। (ख) सुर, गुरु, द्विज तीनोंके आगे मन, कर्म, वचनसे विनम्र होना दिखाया है। *'प्रीति सहित करि'* यह मनका धर्म है। *'शीश नवाना'* कर्म वा तनसे होता है। *'करि बिनय बिसेषी'* यह वचनद्वारा होता है। (पु० रा० कु०)

नोट—५ *'कर नित करहिं…'* इति। (क) *'नित'* शब्द बताता है कि वह जो कुछ भी करता है वह सब अपने स्वामीकी आराधनाके लिये ही करता है। प्रभुकी आराधनासे जिसका सम्बन्ध न हो ऐसा कोई कर्म उनके हाथ नहीं करते। अपने शरीरके लिये, संसारके किसी कार्यके लिये जो वह हाथ हिलाता है, वह भी इसीलिये कि शरीरसे प्रभुकी सेवा होती है, संसारके उस कामको करनेसे प्रभुकी सेवा बनेगी। उसके समस्त कर्म प्रभुकी आराधना बन गये होते हैं। वह जो कुछ करता है, वह सब *'रामपदपूजा'* ही हो चुका है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी) रामपदपूजासे षोडशोपचारादि पूजा, तुलसी, पुष्प उतारना, मन्दिरादिमें झाड़ू देना, चौका देना, वस्त्रप्रक्षालन, पार्षद अमनिया करना, भोगसामग्री, रसोईके बरतन, रसोई करना, माँजना, पंखा झलना, भगवान्‌के भक्तोंकी सेवा करना इत्यादि सब कैंकर्य आ जाता है। आजकल तो संत-वेषमें कैंकर्यका करना अपनी तौहीन समझा जाने लगा है, उसे कहारका काम कहते हैं। अस्तु, (ख) *'नित करहिं'* पर जो ऊपर लिखा गया वह स्थिति कैसे होती है, यह *'राम भरोस हृदय नहि दूजा'* से बताया। जब हृदयमें केवल श्रीरामजीका ही भरोसा रह गया हो, जब शरीर और संसारमें कोई आसक्ति न हो और न अन्यत्र कहीं आशा-भरोसा हो। प्रभु स्वयं कहते हैं—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥'* जिसके हृदयमें केवल श्रीराघवेन्द्रका भरोसा है, वह दूसरेके लिये कोई काम क्यों करेगा?

उसे अपने स्वामीको छोड़ अन्यकी सेवाका प्रयोजन ही क्या है? (श्रीसुदर्शनसिंहजी)। ☞इससे यह उपदेश मिलता है कि भरोसा दूसरेका कदापि न करे। पूजा करे तो इस विचारसे नहीं कि दूसरे देखकर रीझें और हमको कुछ दें। जब दूसरा कोई भरोसा हो जाता है तब भगवान् निश्चिन्त हो जाते हैं। यही कारण है कि भक्तजन सब आशा-भरोसा छोड़ एक प्रभुपर ही सब भार छोड़ देते हैं, यथा—*'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।' 'हरिजन इव परिहरि सब आसा।'* (४। १६। १)

नोट—६ यहाँ *'कर नित करहिं रामपदपूजा'* की जगह वाल्मीकिजीने *'कर नित करि राउरि पदपूजा'* क्यों न कहा? अर्थात् जब वे श्रीरामजीको सम्बोधन करके कहते हैं तब मध्यम पुरुषके सर्वनामका प्रयोग क्यों नहीं करते? उत्तर—यहाँ आदिसे अन्ततक वाल्मीकिजीकी गूढ़ोक्ति है। वे बातें कर रहे हैं दाशरथि रामचन्द्रजीसे। उन्होंने स्थान पूछा है तो उसके उत्तरमें स्थान बताया जाता है कि जिनके हाथ परमात्मा रामकी पूजा करते हैं उनके हृदयमें आप दाशरथि राम जाकर रहिये।

व्यङ्गसे यह प्रार्थना की है कि उनका मनोरथ पूर्ण कीजिये। क्योंकि वे रामपदपूजा इसलिये करते हैं कि राम उनके मनमें आकर बसें। यदि वे राम आकर नहीं बसते तो आप दशरथके पुत्र ही जाकर बसिये। यह विनोद इसी सिलसिलेमें है कि *'जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ।'* याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद भी साथ-ही-साथ चल रहा है। भरद्वाजजी जो वाल्मीकिजीके शिष्य हैं याज्ञवल्क्यजीसे पूछ चुके हैं कि *'एक राम अवधेस कुमारा।'''प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि॥'* (१। ४६) यहाँ याज्ञवल्क्यजी वाल्मीकिजीके मुखसे अर्थात् जिज्ञासुके गुरुमुखसे दाशरथि राम और परमात्मा रामकी एकता युक्तिसे प्रतिपादित करते हैं। यह सारा प्रकरण भरद्वाजजीकी जिज्ञासाका बहुत ही अनुपम उत्तर है। (गौड़जी)

नोट—७ *'चरन रामतीरथ चलि जाहीं'* इति। रामतीर्थ जैसे अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट, पंचवटी इत्यादि। विनयमें कहा है—*'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे। राम सीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥'* (१७०) *'चलि जाहीं'* से पैरोंसे चलकर जाना सूचित किया, सवारीपर नहीं। तीर्थयात्रा इन्द्रियोंको सफल बनानेके लिये होती है। जब चरण चलकर तीर्थमें न जावँगे और तीर्थमें भी जाकर सवारीपर जाकर दर्शन करेंगे तब तो वह सैर-सपाटा है, उससे चरण सफल नहीं होंगे। गौड़जी कहते हैं कि यहाँ यह भाव भी है कि जिन भक्तोंके चरणोंको भगवान्‌के तीर्थमें जानेकी ऐसी बान पड़ जाती है कि जाना कहीं और भी हो तो भी भक्तको उसके चरण बरबस घसीटकर श्रीरघुनाथजीके तीर्थ (मन्दिर) में पहुँच जाते हैं।

नोट—८ ☞ इस चतुर्थ स्थानमें नासिका, त्वचा, मुख, सिर, हाथों और पैरोंकी सार्थकता बतायी है। मिलान कीजिये *'ते सिर कटु तुंबरि सम सूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला॥'* (१। ११३। ४) **'भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥'** (भा० २। ३। २१)।'''**पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ।** (२२) **श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्।'** (२३) अर्थात् जो सिर कभी मुकुन्दके आगे नहीं झुक सके वह पट्टे और मुकुटसे सुशोभित हो तो भी भाररूप है; तथा जो हाथ कभी हरिकी सेवा नहीं करते वे सुवर्णकंकणविभूषित होनेपर भी मुर्देके हाथोंके समान हैं। वे पैर वृक्षके समान हैं जो कभी भगवान्‌के (तीर्थ-स्थानादि) क्षेत्रोंमें नहीं जाते। जो मनुष्य भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी गंध नहीं जानता वह श्वास लेता हुआ भी शवके समान है।—इस प्रकार यहाँतक बताया कि जो शरीरके अङ्गोंको आपकी सेवामें लगाकर सफल कर लेते हैं उनके हृदयमें श्रीरामजी निवास करते हैं।

नोट—९ बैजनाथजीका मत है कि यहाँ प्रसंगभर अनुकूल ग्रहण शरणागति है। और पण्डित रामकुमारजी व गौड़जीके मतसे यह 'पूजासक्ति' या अर्चन-भक्ति है।

नोट—१० वि० त्रि०—अयोध्याकाण्डके उत्तरार्धमें चौथे प्रकारके भक्त श्रीभरतजी हैं। उनमें क्रमसे पाँचोंके

उदाहरण ये हैं—*'तेहि पुर बसहिं भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥'*, *'जात पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आज॥'*, *'करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा।'*, *'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।'*, *'चले रामबन अटन पयादे।'* से *'देखे थल तीरथ सकल'* तक। (और भी ये हैं—*'संपति सब रघुपति कै आही।'* (१८६। ३), *'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस।'* (१८३) *'रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाषी॥'* (२१६। २)

नोट—११ महाभाग श्रीअम्बरीषजी महाराजकी भक्तिसे मिलान कीजिये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि **'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने। करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥'** (भा० ९। ४। १८) **मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्। घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥** (१९) **पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने। कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥** (२०) **एवं सदा कर्मकलापमात्मनः।'**

उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णपदकमलमें, वाणीको वैकुण्ठभगवान्‌के गुणानुवादमें; दोनों हाथोंको भगवान्‌के मन्दिरकी सफाई करनेमें, कानोंको अच्युतभगवान्‌के साथ क्रीड़ा करनेवाली कथाओंके सुननेमें, दोनों नेत्रोंको मुकुन्दभगवान्‌के मन्दिरोंमें भगवान्‌के दर्शनोंमें, त्वक् इन्द्रियोंको भगवद्दासोंके शरीर (चरणादि) के स्पर्शमें, नासिकाको भगवान्‌के चरणकमलोंपर चढ़ी हुई श्रीतुलसीकी सुगन्धमें, रसनाको प्रभुको अर्पण किये हुए नैवेद्य प्रसादमें, चरणोंको भगवान्‌के तीर्थस्थानमें पैदल यात्रा करनेमें, सिरको भगवान्‌के चरणोंकी वन्दनामें लगाते हैं। भगवान्‌की दास्यताकी कामना रहती है, सांसारिक विषयोंकी कामना नहीं होती जैसे भगवान्‌के भक्तोंकी प्रीति संसारके विषयोंमें नहीं होती। इसी तरह वे अपनेको भगवत्सम्बन्धित कार्योंमें लगाये रहते हैं।

(पाँचवाँ स्थान)

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥ ६॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना॥ ७॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जिअ जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥ ८॥
दो०—सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ १२९॥

शब्दार्थ—**तर्पण**=कर्मकाण्डकी एक क्रिया जिसमें देव, ऋषि और पितरोंको तुष्ट करनेके लिये हाथ या अरघेसे जल देते हैं। मध्याह्न स्नानके तथा संध्याके पश्चात् तर्पण करनेका विधान है।

अर्थ—जो नित्य आपका मन्त्रराज जपते हैं, परिवारसहित आपका पूजन करते हैं॥ ६॥ अनेक प्रकार और विधिसे तर्पण और होम करते हैं। ब्राह्मणोंको भोजन कराके बहुत दान देते हैं॥ ७॥ अपने हृदयमें गुरुको आपसे अधिक जीसे जानकर सर्वभावसे आदरपूर्वक गुरुकी सेवा करते हैं॥ ८॥ यह सब करके जो (इन सबका) एकमात्र फल यही माँगते हैं कि श्रीरामजीके चरणोंमें हमारा अनुराग हो, उनके हृदयरूपी मन्दिरमें रघुकुलको आनन्द देनेवाले आप और सीताजी दोनों निवास कीजिये॥ १२९॥

नोट—१ *'मंत्रराजु नित'* इति। श्रीरामषडक्षर तारकमन्त्रको मन्त्रराज कहते हैं। *'नित'* अर्थात् नियमसे कभी कोई अन्तर न पड़े, कोई दिन नागा न हो। मन्त्रजाप नवधाभक्तिमेंसे भी एक भक्ति है। (पं० रा० कु०)

☞मानसमें महामन्त्र, मन्त्रराज और मन्त्र ये तीन शब्द जपके साथ आये हैं। श्री 'राम' नामको महामन्त्र नामवंदनाके प्रारम्भमें ही कहा है। *'महामंत्र जोइ जपत महेसू'*। यह गोस्वामीजीका वाक्य है। *'मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा'* यह यहाँ कहा जो वाल्मीकिजीका वाक्य है जो कलिमें तुलसीदासरूपसे अवतरित हुए और जो उलटा नाम जपकर ब्रह्मसमान हो गये। मन्त्रजाप *'जे राम मंत्र जपंत संत अनंत जनमन रंजनं'* यह गृध्रराज श्रीजटायुजीके वचन हैं। और, *'मन्त्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा।'* (३। ३६। १) यह श्रीरघुनाथजीका

वाक्य है। राममन्त्रोंकी संख्या नहीं है। शंकरजीका वचन है कि सात करोड़ महामन्त्र हैं पर वे सब चित्तविभ्रमकारक हैं और **'राम एव परो मन्त्रो'**, **'राम'** यह सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। षडक्षर राम-तारकमन्त्र श्रीरामतापिनीयोपनिषद्‌में कहा गया है। अतएव मन्त्रराजसे दोनोंका अर्थ होता है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि मानसमें 'राम' नाम ही मन्त्रराज माना गया है। किंतु जिसकी जिस नाम या मन्त्रमें निष्ठा है उसके लिये वही मन्त्रराज है। इसीलिये यहाँ मन्त्रराज कहकर उसे स्पष्ट नहीं किया। *'तुम्हारा'* कहकर जनाया कि वह मन्त्र भगवान्‌का ही होना चाहिये, देवी-देवताका नहीं। क्योंकि भगवान्‌का मन्त्र जपनेवाले भगवान्‌के लोकको जाते हैं और देवताओंका यजन करनेवाले देवलोक (स्वर्ग) ही पा सकते हैं जहाँसे फिर लौटना पड़ेगा।

श्रीबैजनाथजी—*'मंत्रराजु'* इति। अब राजार्ची मार्ग कहते हैं। मन्त्रराज, यथा—**'आदि बीज पुनः चतुर्थ्यन्तनाम पुनः नमः।'** विधिवत् गुरुसे उपदेश ले, फिर अकडम चक्रसे शोधकर सुसिद्ध बीज योजित करके ताड़न, बिमली, कर्णादि संस्कार करे। मार्गशीर्ष, फाल्गुनादि मास शुक्लपक्ष, तृतीया, सप्तमी आदि तिथि, रवि, चन्द्र, गुरुवार, अश्विनी, रोहिणी, पुष्यादि नक्षत्र, सिद्धादि योग, बालवादि कर्ण, चन्द्र, तारा, शुद्ध मीनादि दिग्वारी बली लग्न, योगिनी पीछे चन्द्र सम्मुख इति मुहूर्तमें प्रारम्भ करे। कूर्मचक्रसे भूमिको शोधकर, लीपकर कूर्मचक्र लिखकर कुशासन मृगचर्मपर दिनसे दिशा शोधकर बैठे! मुख-से-मुख, पुच्छ-से-पुच्छ मिलित मन्त्रित गुही हुई तुलसीकी माला गोमुखीमें लेकर अंगन्यास, ध्यानादि करके गोमुखीको हृदयमें लगाकर अङ्गुष्ठमध्यमासे मणिको पकड़कर मन्त्रमें मन लगाकर जपे। मधुरान्न स्वल्प भोजन करे। इस विधिसे नित्य जप करते हैं। ये अर्चनवाले भक्त हैं।

पु० रा० कु०—१ *'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा'* इति।—यहाँ परिवारसे मन्त्रराजका पूजन अभिप्रेत है और ऊपर जो *'कर नित करहिं रामपद पूजा'* कहा गया, उससे प्रतिमापूजनका तात्पर्य है। श्रीरामजीका परिवार उनके परिकर हैं, उन्हें आवरण देवता भी कहते हैं। अवधका पूजन भी इसमें सम्मिलित है। श्रीरामतापिनी उपनिषद्, रामार्चन-चन्द्रिका, अगस्त्यसंहिता और सिद्धान्ततत्त्वदीपिका आदिमें श्रीसीतारामजीका परिवारसहित पूजन कहा गया है और उसका विधान भी दिया है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ परिवारके प्रति भी मनुष्यका कुछ कर्तव्य है। सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है परिवारको भगवान्‌की ओर प्रवृत्त करना। अतः गृहस्थको गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए उचित मार्ग तथा परिवारके प्रति उसका वास्तविक कर्तव्य बतलाते हुए यह 'पंचम भवन' रूप साधन कहा गया है। *'पर उपदेस कुसल बहुतेरे'* वाली बात न होनी चाहिये। अतः पहली बात यह बतायी कि स्वयं *'मंत्रराज निज जपहिं'*। जब स्वयं जपेंगे तो संगका प्रभाव परिवारपर पड़ेगा। यदि परिवार शुद्ध, सात्त्विक, भगवत्सेवापरायण हो तो हमें अपने साधनमें सहज प्रोत्साहन मिले। ऐसा परिवार तपोवनसे भी उत्तम है। अतः परिवारको पूजा, सेवामें लगाया जाय। इस प्रकार परिवारके सभी कर्म भगवत्सेवास्वरूप हो जायँगे और घर जो बन्धनका कारण है वह मोक्षदाता बन जायगा।

टिप्पणी—१ *'तरपन होम करहिं बिधि नाना'* इति। (क) तर्पण-होमसे पितृकर्म और देवकर्म जनाये। इन्हें करके ब्रह्म भोजन और दानकी विधि है सो कही। पुनः, (ख) मन्त्रराजका जप कहकर उसकी विधि कही। जप यज्ञ है, यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'**। यज्ञ करके तर्पण होम (मार्जन) ब्राह्मणभोजन और दक्षिणा करनी होती है, अतएव उन्हें कहा। जपका दशांश आहुति, फिर उसका दशांश तर्पण करना चाहिये फिर इसका दसवाँ अंश विप्रभोजन। (ग)—*'सिय रघुनंदन दोउ'*—विभवकी चाह है इसीसे शक्तिसंयुक्त बसनेको कहा। भक्तिसे भक्ति माँग रहे हैं।

नोट—यहाँपर मन्त्रजापकी पूर्ति है। यह अनुष्ठानपूर्वक मन्त्रजाप कथन है, शेष सब बातें आनुषंगिक हैं। श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीका भी यही मत है कि यहाँ राममन्त्रका यथाविधि पुरश्चरण ही लक्षित है। *'बिधि नाना'*—तर्पण वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक अनेक विधिसे होता है। होम अनेक विधिके अगस्त्यसंहितामें बताये हैं। (रा० पु०, वै०) वा, संध्यांग तर्पण और होम, पूजांग तर्पण होम, वैश्वदेव पञ्चमहायज्ञ इत्यादि। (प० प० प्र०)

श्रीचक्रजी—१ *'तरपन'''*—आजकल अनन्यताका अर्थ कर लिया गया है कि दूसरे देवताओंका विहित पूजन भी न करना, उन्हें नमस्कार न करना; किंतु यह बड़ा भारी भ्रम है। देवता और पितर आदि मनके, इन्द्रियोंके, पदार्थोंके, परिस्थितियोंके अधिष्ठाता हैं। हम सरकारी कर्मचारियों, सम्पन्नों आदिकी सेवा-सत्कार तो करते हैं और उसमें हमारी अनन्यता नष्ट नहीं होती, पर गणेश या शिवजीका व्रत, पूजन, उपवास करनेमें अनन्यता नष्ट होने लगती है। हम समझते ही नहीं कि देवता भी संतुष्ट होकर हमारी निष्ठामें, हमारी उपासनामें सहायक हो सकते हैं। गोस्वामीजी एवं उनका श्रीरामचरितमानस-शास्त्र-मर्यादाका पूरा समर्थक है। मानसकी अनन्यताका अर्थ है इष्टके अतिरिक्त अन्यत्र अनुरागका न होना। दूसरोंकी पूजा करनेमें बाधा नहीं, पर उनसे भी इष्टके प्रति प्रेमकी ही याचना करना अन्य कुछ नहीं चाहना। लेकिन शास्त्र जब जिस कार्यमें, जिस कालमें, जिस प्रकार जिस देवताके पूजनका विधान करते हैं, जब पितृ-तर्पणके समय हैं, तब तर्पण-हवनादि उन-उन विधियोंसे करना ही चाहिये।

२ *'बिप्र जेंवाइ'''* इति। भगवान्‌के दो मुख हैं—अग्नि और ब्राह्मण। भगवान् भा० ३। १६ में कहते हैं कि 'जो सम्पूर्ण कर्मफल मुझे समर्पित करके सदा संतुष्ट रहनेवाले निष्काम ब्राह्मण हैं वे जब घीसे तर पकवानोंका भोजन करते हैं तब उनके मुखमें जाते हुए एक-एक ग्राससे मैं जैसा तृप्त होता हूँ वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियोंके ग्रहणसे तृप्त नहीं होता ब्राह्मण भोजनसे भगवान्‌की तृप्ति विशेषरूपसे होती है। अतः ब्राह्मणको भोजन कराते हैं। 'बहुदाना' से जनाया कि दक्षिणामें कृपणता नहीं करते। दक्षिणाहीन कर्म निष्फल होता है।

नोट—२ *'तुम्ह तें अधिक गुरहि'''* इति। (क) गुरुको अधिक माननेका कारण यह है कि गुरु साक्षात् परब्रह्मका स्वरूप कहे गये हैं पर गुरुमें अधिकता यह है कि इनकी कृपासे भगवत्-प्राप्ति होती है—*'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागौं पाँय। बलिहारी उन गुरूकी जिन गोविन्द दियो लखाय॥'* गुरु-दीक्षा होनेपर मनुष्यका दूसरा जन्म समझा जाता है। भक्तमालमें बल्लभसम्प्रदायके चतुर्भुज स्वामीकी कथा देखिये। पुनः *'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान ?'* एवं *'बिनु गुरु भवनिधि तरै न कोई'*; अतएव गुरुको अधिक मान्य देना कहा। ☞यहाँ गुरुसे दीक्षागुरुका अभिप्राय है।

(ख) *'सकल भाय'*—जैसे, '**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्। शास्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥**' (गुरु गीता), '**तीर्थानि दक्षिणपादे वेदास्तन्मुखाश्रिताः**' इस तरह मानकर तथा 'अमानित्व-अदम्भित्वादि' सर्वलक्षणोंसे युक्त होकर, *'सद्‌गुरु बैद बचन बिस्वासा'* रखकर इत्यादि ध्यानमें रखकर सेवा करते हैं। (प० प० प्र०) वा, प्रेम, नेम, दीनता, दास्यता आदि सब भावसे। (वैं०) इसके साथ यह भी ध्यान रहे कि श्रीगोस्वामीजी अन्धाधुन्ध गुरुडमके समर्थक नहीं हैं। जो ज्ञानदाता है वही गुरु है। (श्रीचक्रजी)

नोट—३ अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें अत्रि आदि ऋषिगण पाँचवें प्रकारके भक्त हैं। ऋषियोंमें उपर्युक्त पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे यथा, *'निसि दिन देव जपतहु जेही,'* *'जे राम मंत्र जपंत संत अनंत जन मन रंजनं'*; *'भजे सशक्ति सानुजं सचीपति प्रियानुजं।'* *'दिव्य बसन, भूषन पहिराए;* *'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा'* (होमादि तो ब्राह्मणोंका नित्य कर्म है) *'अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥'*; *'जोग जज्ञ जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भक्ति बर लीन्हा॥'* (वि० त्रि०)।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'सबु करि माँगहिं'''* इति। (क) कर्मोंका, देवपितृपूजनादिका त्याग नहीं है। उन सब शास्त्रविहित कर्मोंको वे करते हैं और सावधानीसे, उत्साहसे, श्रद्धासे करते हैं; किंतु उन्हें कर्मोंका कोई पुण्य नहीं चाहिये। उनका दूसरा कुछ फल न चाहिये। उनकी सर्वत्र एक ही चाह है, एक ही माँग है—*'राम चरन रति होउ'*। (यही पूज्यपाद गोस्वामीजीने किया और सिखाया है। सबकी बन्दना करके *'बसहु राम सिय मानस मोरे'* *'तुलसी राम भक्ति बर माँगै'*, *'देहु रामचरन रति'* इत्यादि। और यही अवधवासियोंका मत है—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥'''* (७३)। इत्यादि। (ख) *'सिय रघुनंदन दोउ'* ही क्यों कहा?

लक्ष्मणजीको क्यों छोड़ दिया? बात यह है कि लक्ष्मणजी जीवोंके परमाचार्य हैं। वे ही गुरुतत्त्व हैं। जितने भी गुरु हैं वे उन्हींके अंश हैं। अतः गुरुतत्त्वके रूपमें यहाँ इस आराधकद्वारा वे तो पहले ही इष्टसे भी अधिक माने जा रहे हैं और सब प्रकार सम्मानपूर्वक सेवित हो रहे हैं। रह गये '*सिय रघुनंदन*'। अतः इन परात्पररूप दम्पतिको महर्षि आराधकके हृदयमें निवास करनेको कहते हैं। '*रघुनंदन दोउ*' में दोनों 'रघुनन्दन' आ जाते हैं।)

(छठा और सातवाँ स्थान)

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥ १॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥ २॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥ ३॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ ४॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥ ५॥

अर्थ—जिनके न तो काम, क्रोध, मद, मान वा मोह है, न लोभ है और न क्षोभ, न किसीमें प्रेम है न किसीसे वैर॥ १॥ जिनके न कपट-दम्भ है न माया ही—हे रघुराई! उनके हृदयमें वास कीजिये॥ २॥ जो सबके प्यारे हैं, सबका भला करते हैं, जिनको दुःख-सुख, बड़ाई और गाली (स्तुति-निन्दा) दोनों एक-सी हैं॥ ३॥ जो विचारकर प्रिय और सत्य वचन बोलते हैं, जो जागते-सोते मात्र आपकी ही शरण हैं॥ ४॥ आपको छोड़ जिन्हें दूसरी गति नहीं है—हे श्रीराम! उनके मनमें निवास कीजिये॥ ५॥

बैजनाथजी—अर्धाली ७ तक हरिप्रतिकूल-त्याग-शरणागति कही यथा—'*मद कुसंग परदार धन द्रोह मान जनि भूल। धर्मराम प्रतिकूल ये अमी त्याग बिष तूल॥*'

टिप्पणी—१ '*काम कोह मद…*' इति (क) बाह्य शुद्धि कहकर अब अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं। कामादि नरकमें डालनेवाले हैं, यथा—'***काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।***' (५। ३८), '***नारि नयनसर जाहि न लागा।***'(४। २१। ४) '**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**' (गीता। १६। २१) (अर्थात् काम, क्रोध और लोभ असुरस्वभावरूप नरकके मार्ग हैं, आत्माके नाश करनेवाले और अत्यन्त घोर नरकके हेतु हैं।) पुनः, (ख) भाव कि जिसके मनमें लौकिक वा पारलौकिक किसी प्रकारके सुखकी कामना नहीं, न कामभोग, न अभिलाषा और न स्त्री ही है। कामनामें बाधा होनेसे ही क्रोध होता है। उसे कामना नहीं है, अतः कोई कैसा ही अपराध करे तो भी क्रोधको प्राप्त नहीं होता। विद्या-धन-यौवन-जाति-कुल आदिका मद नहीं। प्रतिष्ठा, पूजाकी इच्छा नहीं। [मान और मदमें थोड़ा ही अन्तर है। मान जब सीमा पार कर जाता है तो उसीका रूप मद बन जाता है। मैं द्विज हूँ, अतः मैं श्रेष्ठ हूँ और दूसरे द्विजेतर हैं, अतः निकृष्ट हैं। मैं साधन करता हूँ यह विषयरत पामर प्राणी भला मेरी तुलना कैसे कर सकता है। इस प्रकार दूसरोंसे किसी कारण अपनेको श्रेष्ठ तथा दूसरोंको निकृष्ट समझना मान है। मान रहनेपर भी व्यक्ति प्रायः सावधान रहता है। वह दूसरोंका तिरस्कार बाहर क्रियामें नहीं करता। जब वह तिरस्कार करने लगता है तब वही मान 'मद' बन जाता है (श्रीचक्रजी)। जिसे किसीका मोह नहीं है, देहतकका ममत्व नहीं और न उसमें अहंबुद्धि है। लोभ अर्थात् सुखोपभोगके पदार्थोंमें आसक्ति और क्षोभ अर्थात् अपने मान-मद-मोहमें चोट पहुँचनेपर जो व्याकुलता होती है वह नहीं है। न जिसमें 'राग' (मोहयुक्त प्रेम) है न द्रोह (द्वेष-क्षोभसे होनेवाला रोषात्मक भाव) है। ऊपर कुछ भीतर कुछ यह कपट; बाहरसे साधुवेष भीतरसे दुष्ट, लोगोंको ठगनेके लिये एवं धर्मकी आड़में आत्माकी श्लाघा दम्भ है। छलकी बातें करके वशमें करना माया है। काम-क्रोध आदि चित्तके नौ मानसिक विकार हैं। जबतक ये चित्तमें हैं, चित्त मलिन और चञ्चल रहेगा। अतः साधकके मनसे इन विकारोंको दूर होना ही चाहिये। इस चित्त-शुद्धिके साथ व्यवहारकी शुद्धि भी आवश्यक है। उसके व्यवहारमें कपट, दम्भ

और माया नहीं होनी चाहिये। कपट-दम्भ और माया तीनों ही छलके ही उत्तरोत्तर बड़े रूप हैं। साधारणत: जहाँ हम जानते हैं कि यहाँ छल सम्भव है, वहाँ हमारी बुद्धिको जो धोखा दिया जाता है, वह कपट है। दूकानदार ठीक भाव नहीं बतावेगा, पदार्थ हमें मिश्रित मिलेंगे, यह हम जानते हैं और सावधान रहते हैं। दूकानदार फिर भी अपने और अपने मालको जो सच्चा बताकर हमें ठग लेता है, वह उसका कपट है। धर्मका दिखावा करके अधर्म करना दम्भ है। चोर या डाकू अपनेको छिपाये रखनेके लिये यदि साधुका वेष बना लेते हैं तो यह उनका दम्भ है। मायाका रूप दम्भसे भी विलक्षण है। जहाँ अधर्मको ही तर्क, बुद्धि या कौशलसे धर्म एवं कर्तव्यका रूप दे दिया जाता है, उसे माया कहते हैं। जब कोई अपनेको '*ब्रह्म*' मानकर या कहकर अपनी इन्द्रियोंके भोगसे अपनेको पृथक् बताता है और विषयासक्त बना रहता है, जब कोई अपनेको अवतार बताकर रासलीला करने लगता है तो वह माया करता है। किसीकी बुद्धिको अपने प्रबल तर्कसे मोहमें डालकर या किसीकी भावुकताका लाभ उठाकर जब अधर्म अनाचारको धर्म, उपासना, कर्तव्यादि बताया जाता है तो वह माया होती है। कपट सीधे धोखा है और दम्भ धर्मकी आड़में धोखा है; किंतु दोनों मनुष्यसे केवल आर्थिक लाभ चाहते हैं, दूसरेके धनको ठगते हैं। किन्तु माया दूसरोंके धन और धर्म दोनोंका नाश करती है। माया करनेवाला अपने साथ दूसरोंका भी पतन करता है (श्रीसुदर्शनसिंह चक्रजी)।

नोट—१ प्रथम चार स्थान (श्रवण, दर्शनेच्छा, गुणगान और अर्चा) तो विशुद्ध उपासना मार्ग हैं जिन्हें अकेला व्यक्ति भी कर सकता है। पाँचवाँ कर्मनिष्ठ साधक-मार्ग है। अब छठवेंमें इन्द्रिय एवं चित्तजयीकी बात कही जाती है। यह वीतराग योगी एवं ज्ञानी पुरुषोंके मार्गका निर्देश करता है। इसीसे यह छठा स्थान ज्ञानवृत्ति है। इसमें प्रथम भाग स्थितप्रज्ञ और दूसरा शरणागत है और तीसरा भाग इसकी संतवृत्ति आगे कहेंगे। गीता अध्याय १२ में दी हुई वृत्तियोंसे मिलान कीजिये (पण्डित रामकुमारजी, गौड़जी)। यह निवृत्तिमार्गीय वैराग्यप्रधान साधक है।

नोट—२ यहाँ केवल कामादिक, मानसिक तथा कपटादि व्यावहारिक विकारोंके न होनेमात्रसे साधकके हृदयमें श्रीरामका निवास कहा गया। यह स्थिति चाहे जिस साधनसे प्राप्त हो। इसकी कोई अपेक्षा नहीं है कि उपासना उसने की है या नहीं और उपर्युक्त प्रथम पाँच स्थानोंके सम्बन्धमें यह कहीं भी नहीं कहा गया कि 'चित्त कामादिसे रहित हो तभी उसमें प्रभु पधारें।' यह भेद भी साभिप्राय है। पूर्व कथित पाँच उपासना-मार्ग हैं जिनमें भक्त निरन्तर भगवान्‌के आश्रित रहता है; वह उस दयामयका शिशु बालक है। उसका हृदय-मन्दिर तो श्रीरामजीका अपना भवन है। उसे वे स्वयं स्वच्छ कर लेंगे, क्योंकि वह स्वच्छ हो तो और मलिन हो तो उन्हें वहाँ तो रहना ही ठहरा (श्रीचक्रजी)।

नोट—३ श्रीविजयानन्द त्रिपाठी—अरण्यकाण्डके उत्तरार्धमें छठे प्रकारके भक्त श्रीनारदजी हैं। यथा—***'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी', 'भयउ न नारद मन कछु रोषा', मृषा होउ मम श्राप कृपाला'*** (इससे मद-मान-रहित दिखाया) ***'साँचेहु उनके मोह न माया', 'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होहु'''*** (वरदानमें अपने लाभकी बात नहीं माँगी, यहाँ लोभरहित दिखाया) ***'मुनि गति देखि सुरेस डेराना'*** ('क्षोभ न' का उदाहरण है) ***'उदासीन धन धाम न जाया'*** ('राग न' का उदाहरण है) और ***'तब बिबाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥'*** (कपटरहित होना सूचित करता है)।

टिप्पणी—२ ***'सब के प्रिय'''*** इति। भाव कि सबका हित करनेसे ही सबके प्रिय हैं। (पं० प० प्र० स्वामीका मत है कि सबका प्रिय कोई हो नहीं सकता, सन्तको कोई-न-कोई अप्रिय माननेवाले हुए ही हैं और होते हैं, अत: यहाँ ***'बहु जन प्रिय'*** अर्थ लेना चाहिये। इसी तरह कोई भी अखिल विश्वका हित न तनसे कर सकता है न वचनसे, मनसे शत्रुका भी हित कर सकते हैं।)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ ***'सब के प्रिय'''*** इति। (क) सप्तम स्थानमें प्रवृत्तिमार्गमें लगे हुए लोकोपकारी पुरुषोंकी बातें कही जा रही हैं। लोकनेता या जनसेवक अथवा आचार्य आदि उस किसी भी पुरुषको

कैसा होना चाहिये जो बृहत् समूहका अग्रणी है यह आदर्श इसमें है। (ख) *'सब के प्रिय'* अर्थात् अपना कोई आग्रह किसी प्रकारका रखता ही नहीं। जो अपना कोई आग्रह रखेगा, उसका किसी-न-किसीसे विरोध भी होगा। वह सबका प्रिय नहीं बन सकता। जैसे वायुका किसी गन्धके अनुकूल-प्रतिकूल भाव नहीं, जैसे आकाश सबके लिये समान है, वैसे ही सच्चा सत्पुरुष सबके ही अनुकूल होता है। वह किसीका विरोधी नहीं होता उसे सभी प्रिय लगते हैं। (ग) तब क्या वह चोरके साथ चोरी करेगा? दूसरोंके मुकदमोंमें झूठी साक्षी देगा? शराबीकी शराब पीनेमें सहायता करेगा? ऐसे संदेह न उठें, इसीके लिये *'सब के हितकारी'* कहा गया। सत्पुरुष सबका प्रिय इसलिये है कि वह सबका हितैषी है। वह सबकी भलाई करता है। 'हितकारी' का अर्थ दुष्कर्मोंमें सहायता करनेवाला नहीं है। सच्चा हित है—आत्माका हित। सच्चा हितकारी वही है जो शरीर और मनके विरुद्ध जाना आवश्यक हो तो ऐसा करके भी आत्महित करता है। किसीको फोड़ा हो जाय तो उसके रोने-चिल्लानेपर भी फोड़ेको चीर देना ही सच्चा हित है। रोगीके माँगनेपर भी उसे कुपथ्य न देना उसका हित है। माता कुमार्गमें जाते पुत्रको दण्ड देकर उसका सच्चा हित ही करती है। इस प्रकारका हितकारी भले ही पहिले अप्रिय लगे, पर अन्ततः वह प्रिय ही लगता है। कड़वी दवा पिलानेवाले वैद्यको उस समय तो रोगी मनमें भला-बुरा कहता ही है, पर वैद्य उसे प्रिय होता है। स्वस्थ होनेपर वह वैद्यका कृतज्ञ होता है एवं उसका सम्मान करता है। अतः सबका वही वास्तविक प्रिय है जो सबका वास्तविक हितकारी है। किसीको प्रसन्न करनेके लिये उसके अनुचित कार्यमें सहायता करनेवाला उसका अप्रिय और अहित करनेवाला ही है।

२—(क) *'दुख सुख सरिस'*—जो सबका हितैषी है, उसे सुख-ही-सुख मिलेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। अनेक बार लोग शङ्का करते हैं कि अमुक भजन करता है तो उसे रोग क्यों हुआ? उसपर विपत्ति क्यों आयी? अमुक अधर्म करनेपर भी स्वस्थ, धनी और सुखी क्यों है? ये प्रश्न प्रारब्धके विधानको न जाननेके कारण होते हैं। सुख या दुःख प्रारब्धसे आता है। पिछले जन्मोंके जैसे कर्म थे, वैसे उसका फल इस जन्ममें मिल रहा है। इस जन्मके कर्मोंका फल आगेके जन्मोंमें भोगना होगा। जैसे कौन मजदूर किस प्रकार भोजनादिमें सुखी है, यह बात उसके पिछले सप्ताहके श्रमपर निर्भर है, यदि मजदूरी सप्ताहान्तमें मिलती हो। इस समयके श्रमका फल उसे सप्ताहान्तमें ही प्राप्त होगा। इसलिये प्रारब्धमें जो सुख या दुःख है, उसे तो भोगना ही पड़ेगा। सुख जैसे भगवान्‌का प्रसाद है, दुःख भी उन्हींका आशीर्वाद है। अतः उपासक न तो सुखमें प्रमत्त होता और न दुःखमें व्याकुल ही होता है। वह दोनोंमें समान रहता है।

(ख) *'सरिस प्रसंसा गारी।'* यह भी सम्भव नहीं है कि जो सबका प्रिय हो एवं सबका 'हितकारी' हो, उसे सर्वत्र प्रशंसा ही प्राप्त होगी। निन्दा करनेवाले असज्जन सबके होते हैं। *'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥'*

लेकिन जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बढ़ रहा है, उसका तो आदर्श ही दूसरा है। उसके लिये तो 'प्रतिष्ठा' शूकरी विष्ठा है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बताया है—**'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।'** सम्मानको अत्यन्त भयङ्कर हलाहल विष समझो और नीचके द्वारा हुए अपमानको अमृतके समान लाभकारी मानो। इसीसे महात्मा कबीरने कहा—*'निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।'*

लोक-सेवाका मार्ग ही ऐसा है कि इसमें पद-पदपर सुख-दुःख, मान-अपमान मिलता ही रहता है। जहाँ उसका जयघोष होता है, वहीं काले झंडे भी दिखाये जाते हैं। जो भी सुख-दुःख या मान-अपमानको ध्यान देने योग्य मानेगा वह अपने कर्तव्यपर स्थिर नहीं रह सकेगा; क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि **'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥'**

३-(क) *'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'* इति। झूठ तो साधक बोलेगा ही नहीं, पर 'खरी बात' कहनेका गर्व भी उसमें नहीं होना चाहिये। यह 'खरी बात' कहना भी दुर्गुण ही है। नीति यह है-**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥'** सत्य बोले, किंतु प्रिय सत्य बोले। अप्रिय सत्य न बोले। 'मानस' में यहाँ *'बिचारी'*

बोलनेको कहकर अधिक चमत्कार एवं उत्तमताका आदर्श उपस्थित किया गया है। जो अध्यात्ममार्गका पथिक है, उसे वावदूक (बकवादी) नहीं होना चाहिये। उसे कम-से-कम बोलना चाहिये। जब बहुत आवश्यकता जान पड़े, तभी विचार करके वह प्रिय सत्य बोले। देश, काल, परिस्थिति और पात्रका विचार किये बिना न बोले। *'बिचारी'* का यह भी भाव है कि जैसे विभीषणने रावणको समझानेके लिये अप्रिय लगनेवाला सत्य भी कहा, परंतु कहा बहुत प्रिय ढंगसे। इसी प्रकार यदि प्रिय सत्य बोलना नितान्त असम्भव हो और दूसरोंकी भलाईके लिये बोलना आवश्यक ही हो तो अप्रिय सत्य बोला जा सकता है; लेकिन उसे भी बहुत प्रिय ढंगसे बोलना चाहिये। यह विचार कर लेना चाहिये कि बोलना आवश्यक ही है या नहीं और प्रिय सत्य बोलना किसी प्रकार शक्य हो सकता है या नहीं।

टिप्पणी—३ (क) सत्य प्रायः कठोर होता है। उसे प्रिय बनाकर कहते हैं। जैसे श्रीरामजीने वनवास-समाचाररूपी कठोर सत्यको प्रिय बनाकर कहा, *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* इस तरह उसे 'राज्य' का रूप देकर कहा, जिसमें माता सहम न जाय, उसे सह सके। [जिस सत्यसे दूसरेको दुःख हो उसे नहीं कहते, उससे चुप रहते हैं (रा० प्र०)। सत्य प्रायः कठोर होता है और कोमल प्रिय वचनमें कभी-कभी मिथ्यालाप भी होता है, अतः कहा कि वे सत्य बोलते हैं जिसमें कठोरता नहीं होती और कोमल प्रिय वचन बोलते हैं जिसमें किंचित् झूठ नहीं होता। (पं०)] (ख) *'जागत सोवत सरन तुम्हारी'* इति। स्वप्नमें भी दूसरेकी शरण नहीं जाते, दूसरेकी आशा नहीं करते। यह मानते-जानते हैं और निरन्तर यही धारणा, यही विश्वास रहता है कि आप हमारे रक्षक हैं, दूसरा नहीं। **'रक्षिष्यतीति विश्वासः'** यह तीसरी शरणागति है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ *'जागत सोवत सरन तुम्हारी।'* इति। जो लोगोंका प्रिय है, लोगोंका हितकारी है, प्रिय सत्य बोलता है, और जिसकी बुद्धि सुख-दुःख, मान-अपमानमें समान रहती है, उसमें लोगोंसे सहायता पानेकी आशा और अपनी समताका गर्व शक्य है और गर्व आया कि साधन चौपट हुआ। उसे एकमात्र प्रभुकी ही शरणमें होना चाहिये; वे 'सर्वसमर्थ' ही उससे सब कार्य कराते हैं और उन्हींकी कृपासे चित्तमें समता है, यह निश्चय सदा दृढ़ रहना चाहिये।

'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' धर्मके स्वामी वे पुरुषोत्तम ही हैं। यह भ्रम है कि ईश्वरको न मानकर सत्य, सदाचार, त्याग आदि सद्गुण टिके रहेंगे। ये यदि कहीं देखे भी जाते हैं तो वहाँ इनकी नीवें बालूपर हैं। देखनेमें ये चाहे जितने बलवान् दीखें, पर प्रलोभनोंके अन्धड़में कब ढह पड़ेंगे, इसका कुछ विश्वास नहीं। जिसका भगवान्‌पर विश्वास नहीं, वह प्रत्यक्ष धर्म ही हो, तो भी उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः लोक-नेता वही हो सकता है जिसे सोते-जागते सदा भगवान्‌का ही आश्रय हो। जो नित्य-निरन्तर प्रभुकी शरणमें हो। जो प्रभुके विश्वासपर ही निर्भर हो।

२—*'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।'* इति। परिस्थितियाँ अनुकूल बनेंगी, अमुक सहायता देंगे, लोग मेरी बात मानेंगे, अथवा मैं इतना कर लूँगा आदि आशाएँ जिसे सर्वथा मोहित नहीं करतीं। जो एकमात्र प्रभुपर विश्वास करता है। 'प्रभु जो करेंगे, वही होगा।' इस प्रकार जिसकी एकमात्र गति प्रभु ही हैं, वही सच्चा विश्वासी है। वही ठीक कर्मयोगी एवं उपयुक्त लोक-नेता है।

दूसरे क्रमसे भी देख लें। केवल भगवान्‌पर ही भरोसा, एकमात्र भगवान्‌पर निर्भरता होनी चाहिये। लेकिन इन आन्तरिक धर्मोंके साथ व्यवहारमें भी कुछ होना चाहिये। सबके प्रिय रहें, किसीका अप्रिय न करें। सबकी सेवा, सबकी भलाई करते रहनेमें लगे रहें, सुख-दुःख, मानापमानमें समान भाव रखें और प्रिय सत्य बोलें। मर्यादा-पुरुषोत्तमने स्वयं अनन्यताका लक्षण बताया है—*'सो अनन्य जाकें असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* ऐसे अनन्यके मनमें श्रीराम निवास तो करते ही हैं। [*'गति'* का भाव कि मन, वचन, कर्म तीनोंसे आपमें ही गमन करते हैं (पु० रा० कु०)। यह अनन्य गतिवृत्ति है। (गौड़जी)]

वि० त्रि०—किष्किन्धाकाण्डके पूर्वार्द्धमें सातवें प्रकारके भक्त श्रीसुग्रीवजी हैं। उपर्युक्त छहों लक्षण उनमें घटित होते हैं, क्रमशः उदाहरण यथा—*'दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं'* (इससे सबके प्रिय); *'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा॥'* (से सबके हितकारी); *'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥'; 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पामर पसु कपि अति कामी॥'; 'सो सुग्रीव दास तव अहई'* तथा *'तुम्ह हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥'*

(आठवाँ और नवाँ स्थान)

जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥६॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥७॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥८॥
दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥१३०॥

अर्थ—जो दूसरेकी स्त्रीको माताके समान जानते हैं। जिनको पराया धन विषसे भी भारी विष है॥६॥ जो दूसरेका ऐश्वर्य देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरेकी विपत्तिको देखकर उससे भी अधिक दुखी होते हैं॥७॥ और, हे राम! जिनको आप प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं—उनके मन आपके शुभ (पवित्र) भवन हैं॥८॥ हे प्यारे! जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता, गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मनरूपी मन्दिरमें सीतासहित दोनों भाई निवास करें॥१३०॥

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ *'जननी सम'''* इति। (क) *'पर नारी'* और *'पर धन'* से जनाया कि इनके अपनी स्त्री भी है और अपना धन भी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इसमें जिस साधकका वर्णन है वह विरक्त साधु नहीं है, वानप्रस्थ या ब्रह्मचारी भी नहीं है और ऋषि-मुनियोंके समान वनमें रहनेवाला अपरिग्रही गृहस्थ भी नहीं है। यह गृहस्थ है और उसके पास अपनी सम्पत्ति है। (ख) चतुर्थ और पंचम स्थानवाले भी गृहस्थ हैं किन्तु अष्टम भवनवाले गृहस्थकी अलग विशेषता है। इसमें कर्मनिष्ठा या उपासनाका कोई बाहरी लक्षण नहीं है। इसे लोग धर्मात्मा या भगतजी नहीं जानते। यह बाहरीरूपसे अपने घरके काम-धन्धेमें ही लगा दिखायी देता है। इतनेपर भी यह परम भक्त है। (ग) *'जननी सम'* माताके समान कहनेका भाव कि अपनी माताको देखकर कामविकार उत्पन्न नहीं होता वैसे ही उनको देखकर कभी मनमें जिनके विकार नहीं आता। *'पर नारी'* से जनाया कि केवल अपनी स्त्रीको स्त्री जानते हैं। *'जानहिं'* अर्थात् हृदयसे ऐसा जानते हैं कि वह हमारी माता है, केवल मुखसे 'माता' नहीं कहते। (घ) *'बिष तें बिष भारी'* कहनेका भाव कि जैसे मनुष्य विषसे सावधान रहता है, उसके स्पर्शका किंचित् भ्रम भी सहता नहीं, वैसे ही पराये धनसे साधकको सदा सावधान रहना चाहिये। भूलसे, प्रमादसे, संकोचसे, दबावसे, किसी भी प्रकार किंचित् भी पर-धन उसके उपयोगमें न आवे, यह ध्यान रखना चाहिये। (ङ) कामिनी और कंचन—ये दो संसारमें सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। यदि मनुष्यका मन कामसे कलुषित न हुआ तो फिर उसे अर्थ ही अपवित्र कर सकता है। अतः *'जननी सम'''''* कहकर *'धनु पराव'''* कहा। **'योऽर्थे हि शुचिः स शुचिः'** (मनुः)। (च) झूठ, कपट, छल इत्यादि अधर्म और अन्यायसे प्राप्त द्रव्यसे जो पदार्थ आवे वह चाहे फल, दूध, शाक ही क्यों न हो वह मलसे भी मलिन है, वह मनको मलिन करके अनन्त जीवनको ही नष्ट कर देता है। अतएव उसे विषसे भी भारी विष कहा।

२—*'जे हरषहिं पर संपति देखी'''* इति। आत्माका नाश करनेवाले तीन विकार नरकके द्वार कहे गये हैं इसीसे भगवान्‌ने तीनोंका त्याग करनेका आदेश किया—**'तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्'**। इन तीनोंमेंसे काम और लोभको छोड़ देनेपर क्रोधका केवल एक ही रूप रह जाता है—अमर्ष। क्योंकि काम और लोभ

न होंगे तब उनके सम्बन्धसे क्रोध भी नहीं हो सकेगा। अमर्ष-त्यागकी बात अब कहते हैं—*'हरषहिं…'।* सत्पुरुष दूसरेके सुखको देखकर उदासीन भी नहीं रहते। उनके मनमें अमर्ष नहीं रहता, स्नेह रहता है। दूसरेको सम्पत्तिशाली देखकर वे प्रसन्न होते हैं। (ख) *'दुखित होहिं पर बिपति…'*—भाव कि विपत्ति उनपर भी पड़ती है पर उससे वे दुःखी नहीं होते, किन्तु भगवान्‌का मंगलमय प्रसाद मानकर वे शान्त, स्थिर और संतुष्ट रहते हैं। दूसरेका दुःख देखकर वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, उनसे दूसरेका दुःख देखा नहीं जाता।—*'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता'।* ☞यहाँतक अष्टम स्थानके साधक महापुरुषोंका बाह्य आचरण कहा, आगे उनके चित्तकी प्रवृत्ति बतलाते हैं।

३ *'जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे…'* इति। भाव कि वे जप, तप, भजन, पूजन करते हों या न करते हों, पर उनके प्राण सदा श्रीराममें ही लगे रहते हैं। वही उनके प्राणोंके प्राण एवं जीवनके जीवन हैं। यदि ऐसा न होता तो भला काम, लोभ, अमर्ष-जैसे प्रबल शत्रुओंको वे जीत कैसे पाते?

वि० त्रि०—किष्किन्धाकाण्डके उत्तरार्धमें आठवें प्रकारके भक्त चौदहों सुभट हैं जो दक्षिण भेजे गये थे। क्रमशः लक्षणोंके उदाहरण ये हैं—*'मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज। दूर तें ताहि सबन्हि सिरु नावा॥'* (जननी सम जानकर), *'तेहि तब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना॥'* (आज्ञा पानेपर जल पिया), *'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं'*, *'अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥'* (राजा और प्रभुका कार्य न कर पानेसे), *'राम काज लवलीन मन बिसरा तन कर छोह॥'*

नोट—१ (क) *'स्वामी'* का भाव कि आप ऐसे सर्वशक्तिमान्, पूर्णकाम, षडैश्वर्यसम्पन्न, समस्त ईश्वरों और स्वामियोंके भी स्वामी, करुणा, दया, वात्सल्य, सौशील्यादि समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न स्वामीको ही अपना स्वामी जानते और मानते हुए आपकी ही सेवामें तत्पर रहते हैं। आपका सेवक होनेका अभिमान रखते हैं। यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* एकमात्र आपका ही आशा-भरोसा रखते हैं, भूलकर भी किसी दूसरेके द्वारपर नहीं जाते। योग और क्षेम दोनोंके लिये आपहीपर निर्भर हैं। पुनः, *'स्वामी'* कहकर यह भी जनाया कि सर्वभावसे कपट छोड़कर उनकी सेवा करते हैं, उनकी आज्ञाका पालन करते हैं यथा—*'भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥'* (४। २३। ४) (ख) सखा वह है जो साथ खाय, खेले, साथ रहे, अपनी सब सम्पत्तिको मित्रकी माने, गाढ़में काम आवे, इत्यादि। सखा और मित्र पर्याय हैं। मित्रके लक्षण कि० ७। १-६ में प्रभुने सुग्रीवजीसे कहे हैं। प्रभु श्रीरामजी ऐसे ही हैं। वे स्वामी होनेपर भी सेवकको सखा ही मानते हैं। वे जाति-पाँति कुछ नहीं मानते। वे तो जीवमात्रके सखा हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'**। श्रीचक्रजी ठीक ही लिखते हैं कि 'उन्हें दूसरोंको अपना सेवक कहनेमें सदा संकोच होता है। वे तो बन्दर-भालुओंको भी सब राजसमाजके सामने अपना सखा कहते हैं। वे हमारे सखा हैं। ऐसी कोई बात नहीं कि वे सर्वेश्वर हैं तो सदा उन्हींका आदेश चलता है। कोई विश्वासपूर्वक कहे तो सही—'राघव! यह कार्य तो ऐसे ही होगा।' अपने सखाका अनुरोध ये निखिल ब्रह्माण्डनायक होनेपर भी कभी टालते नहीं। लेकिन ऐसे अनुरोधकी भला आवश्यकता ही क्यों हो? हमारे स्नेहमय सखा हमारे लिये सदा सचिन्त रहते हैं। जो श्रीरामको सखा बना लेगा, उसमें भय, शोक, चिन्ता, आतुरता, वासना आदि भला रह सकेंगे!' (ग) *'पितु मातु'* का भाव कि बच्चेके भरण-पोषणका पूर्ण दायित्व और भार माता-पितापर ही है। यथा—*'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनहि प्रभु पोसे॥'* (५। ३। ४) *'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के।'* (वि० २२५) प्रभुको माता-पिता माननेका भाव यह है कि रक्षण-भरण-पोषणके लिये सदा उनपर निर्भर होकर निश्चिन्त रहता है। कल क्या होगा इसकी चिन्ता कभी नहीं होती। पुनः इससे यह भी जनाया कि जो-जो आचरण पुत्रके होने चाहिये जो प्रभुने अवतार लेकर अपने द्वारा बताये हैं, जैसे कि सबेरे उठकर प्रणाम करना, आज्ञा माँग-माँगकर काम करना इत्यादि, वैसा ही आचरण करते हैं। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि *'पितु मातु'* का भाव यह है कि **'पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणन्ति देवताः॥'** (स्कं० पु०) **'नास्ति मात्रा समं तीर्थं नास्ति मात्रा समा गतिः। नास्ति मात्रा समं त्राणं नास्ति मात्रा समा प्रभा॥'** इत्यादि सब भाव

भगवान्‌में ही जानते हैं। (घ) *'गुरु'* का भाव कि भक्ति और ज्ञानके दाता वे ही हैं। जो उपदेश उन्होंने दिया है, उसपर हमें चलना चाहिये। उत्तरकाण्डमें पुरजनोपदेश है। प्रभु कहते हैं—***'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'*** (७। ४। ३। ५) श्रीचक्रजी लिखते हैं कि 'गुरुरूपमें भी वही पूजित होते हैं। गुरुमें मनुष्यभाव रखना अपराध है। गुरुकी देह तो मूर्तिके समान पीठ है। उस पीठमें गुरुतत्त्वके रूपमें वे परम गुरु ही पूजित होते हैं। वे उदार हमारे गुरुदेव हैं। फिर हमें कहीं और भटकनेकी आवश्यकता क्या है?' ज्ञानके समस्त स्रोत उन चिद्घनसे ही प्रवृत्त होते हैं, अत: वे गुरु हैं। गुरु कहनेका एक तात्पर्य यह भी है कि प्रभु हमारे स्वामी-सखा आदि हैं यह सोचकर किसीको कुसेवक, कुमित्र एवं कुपुत्र नहीं बनना चाहिये। इससे किसीको मनमानी करनेकी छूट नहीं मान लेना चाहिये। अपनी वासनाओं एवं अपने दुर्गुणोंका कुतर्कके द्वारा समर्थन नहीं करना चाहिये। प्रभु गुरु भी हैं। जैसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रय संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करता है, गुरुकी आज्ञामें रहते हुए सेवा करता है वैसे ही हमको संयम-सदाचारका सावधानीसे पालन करना चाहिये। शास्त्रीय मर्यादाकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।' (ङ) *'सब तुम्ह'* का भाव कि और भी जितने नाते हैं वह सब आप ही हैं। यही बात पाण्डवगीता **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥'** इस स्तुतिमें तथा कवित्त रामायणके ***'राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परम हित। साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसीदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥'*** (छप्पय ११०) में कही गयी है।

नोट—***'स्वामि सखा'''सब तुम्ह'*** इति। स्वामी, पालनकर्ता, सखा विश्वासपात्र, पिता पालनकर्त्ता उससे भी अधिक माता, गुरु, उपदेशकर्त्ता सब आपको ही मानता है, यथा—***'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मो कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥'*** (३। १६। १), ***'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥'*** (सु० ४८) इसके उदाहरण श्रीलक्ष्मणजी हैं, यथा—***'गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥'*** (७२। ४) (प्र० सं०)

बैजनाथजी कहते हैं कि यह आत्मनिक्षेप शरणागति है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ जीवके सर्वस्व वे ही हैं। वह समस्त विश्व उन्हींका रूप है। समस्त परिवार उन्हींकी विभूतियाँ हैं। वे ही समस्त पदार्थों एवं प्राणियोंके रूपमें हमारे सामने हैं। हमें इन पदार्थों एवं प्राणियोंके विभिन्न नामरूपोंसे प्रयोजन नहीं, हमें तो इनमें रमनेवाले श्रीरामसे प्रयोजन है।

२—***'सीय सहित दोउ भ्रात'*** के बसनेका एक भाव यह है कि स्वामी, सखा और पिता श्रीराम हैं और उनके साथ त्रिभुवनजननी श्रीविदेहनन्दिनी (माता) हैं तथा निखिल जीवोंके गुरु श्रीलक्ष्मणलालजी। इन त्रिमूर्तिके लिये ही यह दोहा कहा गया है।

३—स्वामी, सखा आदिके क्रमका भाव—दास्य सार्वभौम भाव है, सभी भावोंमें व्यापक रहता है। जीव भगवान्‌का नित्य दास है यह सभी आचार्योंने माना है। अत: प्रभुको स्वामी कहा। श्रुति परमात्माको अन्तर्यामीरूपमें जीवका सखा बतलाती है। अत: श्रुतिकी मर्यादाके लिये दूसरा सम्बन्ध सखाका कहा गया। समस्त विश्व परमात्मासे ही प्रकट हुआ है—**'जन्माद्यस्य यत:।'** अतएव वही सबके वास्तविक पिता हैं। शक्ति उनसे अभिन्न है। अतएव सबकी माता भी वही हैं। पितामें जो स्नेहकी न्यूनता होती है वह उनमें नहीं है। उनकी असीम दयालुता सूचित करनेके लिये भी उन्हें माता कहा जाता है।

वि० त्रि०—सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें नवें प्रकारके भक्त श्रीहनुमान्‌जी हैं। लक्षणोंके उदाहरण क्रमश: ये हैं—***'रामदूत मैं मातु जानकी'***, ***'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे'***, ***'सेवक सुत पति मातु भरोसे'***, ***'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'***, ***'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (उपदेश होनेसे गुरु)।

(दसवाँ और ग्यारहवाँ स्थान)

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥ १॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका॥ २॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥ ३॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥ ४॥

अर्थ—जो अवगुणोंको छोड़ सबके गुणोंको ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गौके लिये क्लेश सहते हैं॥ १॥ नीतिमें निपुण (पूरे) होनेमें जिनकी जगत्‌में लीक (मर्यादा) है, उनके अच्छे मन आपके लिये उत्तम घर हैं॥ २॥ जो आपका गुण और अपना दोष समझते हैं अर्थात् जो कुछ हमसे अच्छा बनता है वह आपकी कृपासे और जो कुछ हमसे बिगड़ता है वह सब हमारे प्रारब्धके दोष और हमारे अपराधसे, उसमें आपका कुछ दोष नहीं। जिसको सब तरहसे आपका ही भरोसा है, (कि वही होगा जो आप करेंगे; आप भला ही करेंगे)॥ ३॥ जिसे रामभक्त प्रिय लगते हैं—उसके हृदयमें वैदेहीसहित वास कीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ यह प्रसङ्ग विशेष क्षत्रियोंमें घटित होता है। *'अवगुन तजि'*', *'बिप्र धेनु हित'*', और *'नीति निपुन'*', ये सब राजधर्म हैं। (ख) *'अवगुन तजि'* यथा—*'संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'* (१।६) *'मधुकर सरिस संत गुनग्राही।'* (१।१०।६) पुनः यथा—*'गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी॥'* (१।२८) (ग) *'बिप्र धेनु हित'*'—इनके लिये सभीको संकट सहना उचित है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है; पर क्षत्रियोंका विशेष कर्तव्य यही है। भगवान् स्वयं इनका कष्ट दूर करनेके लिये अवतार लेते हैं; अतः कर्तव्य-धर्म जानकर इनके लिये संकट सहते हैं।

नोट—१ दसवें निकेतनमें भी उपासनाकी कोई बात नहीं कही गयी है। ये साधक श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन आदि करते हों या न करते हों, यदि इतने साधनोंमें पूर्ण हैं तो इतनेहीसे भगवान् उनके मनमें वास करते हैं। *'अवगुन तजि'* के दोनों अर्थ होते हैं, एक तो अपने अवगुणोंका त्याग करते हैं, दूसरे जो अवगुण दूसरेमें देखते हैं उनको ग्रहण नहीं करते एवं उनकी चर्चा कभी नहीं करते। इससे जनाया कि वे जानते हैं कि क्या गुण है, क्या अवगुण। यथा—*'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'* प० प० प्र० स्वामीका मत है कि जब दूसरोंके अवगुण देखनेमें आते हैं तब, वे दोष अपनेमें हैं या नहीं इसकी जाँच करके उनका त्याग करते हैं। *'सब के गुन गहहीं'*—भाव कि *'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।' 'निगमागम गुन दोष बिभागा। जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥'* (१।६) सारी सृष्टिमें गुण और अवगुण दोनों मिले हुए पाये जाते हैं। वेदों और शास्त्रोंने इनके गुण और दोष बता दिये हैं। अतः सद्ग्रन्थोंसे उनको जानकर ये उनके गुण ले लेते हैं, जैसे भगवान् दत्तात्रेयजीने वेश्या, श्वान आदिसे भी गुण लिये और उनको गुरु माना। *'सब के'* से जनाया कि जहाँ भी गुण देखते या सुनते हैं उसे ग्रहण करते हैं। *'गहहीं'* से जनाया कि वेद-पुराण-शास्त्र पढ़े या सुने हैं तथा गुणोंको धारण करते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) *'अवगुन तजि'* इति। श्रीभरतलालजीसे मर्यादा-पुरुषोत्तमने स्वयं कहा है—*'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिये सो देखिय अबिबेक॥'* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवजीको उपदेश करते हुए श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें इसे स्पष्ट किया है—'**गुणदोषदृशेर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।**' गुण और दोष दृष्टिके दोष हैं। जिससे हमारा स्नेह है, जिसमें हमारा अपनत्व है, उसके दोष भी गुण जान पड़ते हैं और जिससे हमारा द्वेष हो जाता है, उसके गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। दृष्टिकोणके भेदसे एक ही कार्य किसीको गुण और किसीको दोष जान पड़ता है। यह गुण-दोष देखनेवाली वृत्ति दृष्टिका दोष है। यह 'अविवेक' है। इसलिये सर्वोत्तम मार्ग तो यह है—'**अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु**

मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥' (भागवतमाहात्म्य ४।८०) अर्थात् दूसरोंके दोष एवं गुणका चिन्तन छोड़कर सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्य सेवा की जाय और भगवान्‌की मंगल-कथाका रसास्वादन किया जाय।

सृष्टिकर्ताने सम्पूर्ण सृष्टिको ही गुण-दोषमय बनाया है। जड़ हो या चेतन, यहाँ कोई पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें गुण-ही-गुण हो, दोष न हो और कोई ऐसा भी पदार्थ नहीं, जिसमें दोष-ही-दोष हो, कोई गुण न हो। जब हम किसी वस्तु या व्यक्तिमें दोष देखते हैं तो वह दोष उस वस्तु या व्यक्तिमें हो या न हो हमारे चित्तमें दोषवृत्तिका उदय तो होता ही है। हमारा चित्त उससे मलिन होता है। इसी प्रकार हम जब किसीमें गुण देखते हैं तो वह गुण उसमें भले न हो, हमारे चित्तमें गुणवृत्ति बनती है; इसलिये दोष देखनेमें अपनी हानि-ही-हानि है और लाभ कुछ नहीं है। गुण देखनेमें अपनी हानि कुछ नहीं, केवल लाभ-ही-लाभ है। (ख) ***'विप्र धेनु हित संकट सहहीं।'*** इति। ब्राह्मणों एवं गौओंकी रक्षाके लिये, उन्हें सुखी करनेके लिये जो स्वयं कष्ट उठाते हैं, अपनेको विपत्तिमें डालकर भी उनकी रक्षा करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको ठीक समझते हैं। वे सच्चे धर्मात्मा हैं। स्वयं परात्पर परब्रह्म निखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्दघन श्रीरामजी भी ***'बिप्र धेनु हित नर तनु धरहीं।'*** ब्राह्मणोंकी रक्षा, ब्राह्मणोंकी सेवा और गायोंकी रक्षा तथा गायोंकी सेवा तो भगवान्‌का अपना काम है। जो इस काममें लगते हैं, वे भगवान्‌के निजी काममें योग देते हैं। उनके कामका महत्त्व भगवत्पूजासे किसी प्रकार कम नहीं है। जो गौ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये विपत्ति उठा लेते हैं, उन्होंने तो ठीक उस प्रकार भगवत्कार्यके लिये अपनेको संकटमें डाला है, जैसे जटायुने रावणके हाथसे श्रीजानकीजीको छुड़ानेके लिये अपनेको संकटमें डाल दिया था। यथा—***'अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥'*** (३। २९। ८) उनके कार्यको प्रभु सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। सर्वाधिक प्रिय हैं वे पुरुष श्रीराघवके!

टिप्पणी—२ ***'नीति निपुन जिन्ह''''लीका'*** इति। यथा—***'अति नय निपुन न भाव अनीती।'*** ऐसे निपुण कि जगत्‌में उनकी लीक है, वे नीति-मार्गको बाँध गये और चला गये हैं जो आजतक चली जाती है।

श्रीसुदर्शनसिंह—२ (क) ***'नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका।'*** इति। जो किसीका दोष नहीं देखता, सबमें गुण ही देखता है, वह सर्वत्र धोखा खाता होगा? धूर्त लोग उसे ठगते ही रहते होंगे? गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षाके उत्साहमें वह अकारण भी अपनेको विपत्तिमें डाल लेता होगा? यहाँ इन सब शंकाओंका निवारण कर दिया गया। वे इतने नीतिकुशल होते हैं कि संसार उनके पदचिह्नोंपर चलता है। उनके द्वारा स्थापित नीतिमार्ग दूसरोंको पथ-दर्शन देता है। उदाहरण देखना हो तो महाभारतमें श्रीविदुरजीकी नीति और उनका जीवन देखना चाहिये। पितामह भीष्म भी इसके आदर्श हैं। इस विषयमें मानसमें श्रीभरतलाल एवं श्रीहनुमान्‌जीके चरित देखने योग्य हैं। अन्याय करना पाप है और अन्याय सहना भी पाप-जैसा ही है। किसीमें दोष नहीं देखना चाहिये; पर किसीके भुलावेमें नहीं आना चाहिये। दोष न देखकर गुण देखना संतका चिह्न है और ठगे जाना अज्ञानका। संत अज्ञानी नहीं होता। उसे ठगा नहीं जा सकता। जान-बूझकर वह किसीके छलको किसी कारण सह ले, उसकी उपेक्षा कर दे, यह दूसरी बात है।

गौ एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा भी वही कर सकेगा जो नीति-निपुण होगा। केवल उत्साह एवं त्यागसे रक्षा नहीं होती। उत्साह और त्याग होनेपर भी नीतिकुशलता न हो तो रक्षाके स्थानपर अपने अटपटे व्यवहारसे रक्ष्यका संकट बढ़ जानेकी सम्भावना रहती है। अतः रक्षाका दायित्व लेनेवालेको आदर्श नीति-निपुण होना चाहिये। नीति-निपुणका अर्थ है कि वह स्वयं अन्याय नहीं करेगा और किसीके अन्यायको चलने नहीं देगा। उसे ठगा नहीं जा सकता। वह व्यवहारमें पूरा सावधान रहता है। (ख) यह दशम भवन भी लोकनेताका आदर्श रखता है, किन्तु यह लोकनेता सामान्य लोकनेता नहीं है। यह जन-साधारणका अग्रणी नहीं। यह गौ एवं ब्राह्मणोंका सेवक है। यह धार्मिक नेता है। गौ (धर्म) ब्राह्मण (शास्त्र) का

यह संरक्षक है। ऐसे धार्मिक नेताका स्वरूप इसमें निर्दिष्ट हुआ है। (ग) इस भवनमें भी उपासनाकी आवश्यकता नहीं बतायी गयी है। यह निष्काम कर्मयोगका ही मार्ग है। कहीं किसीमें दोष न देखकर सर्वत्र सबके गुणोंपर ही दृष्टि रखता हुआ, गौ-ब्राह्मणोंकी सेवामें विपत्ति उठानेसे भी जो हिचकता नहीं और व्यवहारके क्षेत्रमें जो आदर्शनीति-निपुण है, उसका मन तो श्रीरामके लिये *'नीका'* भवन है।

वि० त्रि०—सुन्दरकाण्डके उत्तरार्धमें दसवें प्रकारके भक्त विभीषणजी हैं। उनमें ये तीनों गुण पाये जाते हैं। यथा—*जौं कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥'* (यह *'अवगुन तजि सब के गुन गहहीं'* का उदाहरण है), *'बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥' 'अति नय निपुन न भाव अनीती॥'* (यह 'नीति-निपुणताका' उदाहरण है)।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—३ *'गुन तुम्हार' '* इति। अच्छे या बुरे चाहे जिससे आप मिलिये, साधारणतः मानव-मनकी एक ही प्रकृति है—कोई अच्छा काम हो गया, कोई सफलता हो गयी तो यह मैंने किया, यह मेरे अथक प्रयत्नसे हुआ, मेरी सहायतासे हुआ। इस प्रकार गुण एवं सफलता वह अपनी ही मानना चाहता है। दूसरेके गुण, दूसरेकी सफलताका भी प्रधान हेतु अपनेको बताता है। लेकिन जो दुर्गुण हैं, दोष हैं, उनके लिये कहेगा—'यह विवशता है, यह अमुककी सम्मतिका फल है, अमुकके संगसे ऐसा हुआ, मेरा विचार ऐसा नहीं था। इसी प्रकार असफलताके लिये कहेगा—'दैवने साथ नहीं दिया। अमुककी सम्मतिने काम चौपट किया। अमुकने काम बिगाड़ा। इस प्रकार अपनेमें कोई दुर्गुण, कोई दोष वह स्वीकार नहीं करना चाहता। अपनेको किसी हानि, किसी असफलताका निमित्त नहीं मानना चाहता। सब दोष भाग्य, ईश्वर, परिस्थिति, समाज या सहयोगियोंका ही बतलाता है। वहाँ यदि आप किसी चोर या हत्यारेसे बात करें तो वह अपनी चोरी या हत्याके पक्षमें इतने तर्क देगा कि वह साक्षात् धर्ममूर्ति जान पड़ेगा।

मनुष्यका अहंकार उसे निरन्तर धोखा देता रहता है। जिन कार्योंको करनेके लिये हम दूसरोंकी निन्दा करते हैं, दूसरोंसे जिन कार्योंके कारण घृणा करते हैं, अपने उन्हीं कार्योंको उचित मानते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी उचित मान लें। प्रकृति अधोगामिनी है। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार तथा इन्द्रियाँ भी स्वभावसे बहिर्मुख हैं। विषयोंमें इनकी सहज प्रवृत्ति है। जैसे पके अन्नका सहज धर्म सड़ना है। वह सुरक्षित रहता है तो किसीके प्रयत्नसे रहता है, वैसे ही जीवोंकी प्रवृत्ति अधोमुखी है। उनमें संयम, नियम, सावधानी, धर्म, सत्यादि गुण भगवान्‌की कृपासे ही आते हैं। सम्पूर्ण सद्‌गुणोंके एकमात्र निवास परम प्रभु ही हैं। जैसे जितनी भी उष्णता है सब अग्निसे ही आती है वैसे ही जितने भी सद्‌गुण हैं वे प्रभुसे ही प्राणियोंमें आते हैं। जो विचारशील हैं, विवेकी हैं वे इस सत्यको समझते हैं। जितने गुण हममें हैं, वे हमारे नहीं हैं, वे तो प्रभुके गुण हैं। उनकी कृपासे हममें आये हैं। ऐसी उनकी धारणा होती है और इसके फलस्वरूप अहंकार, दर्प आदि उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते।

बड़ी सरलतासे लोग कह देते हैं—'भगवान् ही सबके संचालक हैं, सब कार्य उन्हींकी इच्छासे होते हैं, फिर हम पाप भी उन्हींकी इच्छासे करते हैं। हमें हमारे पापका दण्ड क्यों भोगना पड़ता है? यह कहाँका न्याय है?' उनसे पूछा जाय—'भैया, जैसे तुम भगवान्‌की इच्छासे चोरी या व्यभिचार करके अपनेको निर्दोष मानते हो वैसे ही दूसरा भी तुम्हारे घर चोरी या तुम्हारी बहू-बेटीसे अनाचार क्या भगवान्‌की इच्छाके बिना ही कर लेता है। जब वह भी भगवान्‌की इच्छासे ही ऐसा करता है तो फिर आप दुःखी या क्रोधित क्यों होते हैं? उसे दोषी क्यों बताते हैं? क्यों चाहते हैं कि उसे दण्ड प्राप्त हो? देवता! जो अपराध है, पाप है, वह सबके लिये ही पाप है। उसमें बहानेबाजी नितान्त व्यर्थ है।

बात यह है कि जैसे सूर्यके प्रकाशसे ही सबके नेत्र देखनेमें समर्थ होते हैं, किंतु कहीं सद्भावपूर्ण दृष्टि डालना या कहीं कुदृष्टि डालना व्यक्तिका निजी कार्य है, वैसे ही भगवान्‌की शक्तिसे ही सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट है, यह ठीक होनेपर भी यह भूलना नहीं चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जितने भी पाप हैं, जितने भी अपराध हैं, जितने भी दोष हैं, वे व्यक्तिके हैं, सर्वात्माके नहीं हैं। शरीरके, इन्द्रियोंके

तथा स्वजन-सम्बन्धियोंके सुखमें आसक्ति, मान-सम्मानमें आसक्ति ही समस्त पापोंकी जड़ है। देहासक्तिसे ही पाप होते हैं। आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि भी देहासक्तिके कारण ही हैं। यदि व्यक्ति अपनी देहासक्ति छोड़कर अपनेको भगवान्‌का यन्त्र बना दे तो उसमें कोई दोष रह नहीं सकता। उससे भूलसे भी कोई पाप होना शक्य नहीं; क्योंकि भूल स्वयं व्यक्तिके अहंकारतक ही रहती है।

☞ *'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।'* यह कोरी भावुकता नहीं है। यही सत्य दृष्टि है और जो सत्यसे विमुख है, उसे सत्यस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि कैसे हो सकती है?

नोट—२ (क) *'गुन तुम्हार·····'* इति। यथा—*'तुलसी सुखी जो राम सों दुखी सो निज करतूति। करम बचन मन ठीक जेहि तेहि न सकै कलि धूति॥'* (दो० ८८) पुनः, *'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो॥ कोटिहु मुख कहि जाइ न प्रभुके एक एक उपकार।'* (वि० १०२) *'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* (ख) *'सब भाँति तुम्हार भरोसा'* इति। अर्थात् जो कुछ करेंगे सो आप ही। आपकी ही प्रपत्तिमें विश्वास है, कृपाहीका भरोसा है। यथा—*'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥'*, *'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस।'* (१८३) *'प्रनत कुटुंब पाल रघुराई'*, *'प्रनतपालु पालिहि सब काहू। देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥ अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचारु न सोकु खरो सो॥'* (३। १४। ४-५) *'सब भाँति'* अर्थात् मन-कर्म-वचनसे। वा स्वामी-सखा-माता-पिता सभी भावका भरोसा है। इससे विश्वासमें अचल दिखाया। स्वप्नमें भी दूसरेका भरोसा नहीं, यह लक्षण चौथे निकेतनमें भी कहा गया है। वे ही भाव यहाँ समझ लेना चाहिये। (ग)—*'राम भगति प्रिय'''*, यथा-*'गृही बिरति रत हरष जस'''* (कि० १३) *'मोहि भगत प्रिय संतत'''।'* (७। ८५) यह श्रीमुख-वचन है। अतः भगवान्‌का प्रिय कृपापात्र उनके दासको भी प्रिय लगना ही चाहिये।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—४ *'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।'* इति। जब गुण सब जगदात्माके हैं और उसीसे आते हैं और त्रुटियाँ तथा दोष सब व्यक्तिके अपने हैं तो व्यक्ति गर्व किस बातका करे? उसे अपनी शक्तिपर कैसे विश्वास रह सकता है? जो दूसरे हैं विश्वमें वे भी उसीकी कोटिके हैं। उनमें चाहे जितने सद्‌गुण हैं वे भी प्रभुसे ही आये हैं। जब प्रभुसे आये सद्‌गुणोंकी किरणोंपर ही अटकना है तो उन किरणोंके परमायन परमप्रकाशपर ही क्यों न अटका जाय। इसलिये जो सत्यदर्शी होता है, वह फिर इधर-उधर कहीं भटकता नहीं। किसी भी दशामें किसी भी बातके लिये उसकी आँख प्रभुको छोड़कर और किसीकी ओर नहीं उठती। उसे एकमात्र प्रभुका ही भरोसा रहता है। गङ्गा गये तो गङ्गादास और यमुना गये तो यमुनादासवाली बात उसमें नहीं। वह तो पर्वतके समान दृढ़ होता है—*'बनै तो रघुबर ते बनै, बिगरै तो भरपूर। तुलसी औरनि ते बनै, वा बनिबे में धूर॥'* लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह घमण्डी होता है, वह संतोंकी उपेक्षा करता है। इस उपेक्षाकी शंकाको दूर करनेके लिये ही कहा जाता है—*'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।'* जिसे भगवान् प्यारे लगेंगे, उसे भगवान्‌के भक्त भी प्यारे लगेंगे ही। अपने प्रियसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रेमीको प्रिय लगती है, यह सामान्य नियम है, किंतु यहाँ तो बात ही दूसरी है। देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।**' भक्तमालमें भी यही बात कही गयी है—*'भगति भगत भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक।'* अतः श्रीरामके भक्त तो साक्षात् उन श्रीकौशलानन्दवर्धनके स्वरूप ही हैं जो श्रीरामसे अनुराग रखता है, एकमात्र उन्हींपर भरोसा रखता है, उसे श्रीरामके भक्त तो अवश्य ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे। '**अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु तद्भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥**' (भा० ११। २। ४७) जो भगवान्‌की (मूर्ति आदि) की पूजा तो श्रद्धासे करता है, किंतु भगवान्‌के भक्तोंमें तथा अन्य पूज्योंमें जिसकी श्रद्धा नहीं, जो उनका सत्कार नहीं करता, वह तो प्राकृत—बहुत सामान्य कोटिका भक्त है।—यह बात तो नौ योगेश्वरोंमेंसे हरि नामके योगेश्वरने कही है। महापुरुष किसीकी निन्दा नहीं करते, किसीको कटु शब्द नहीं कहते, इसलिये उन्होंने भगवद्भक्तोंकी

उपेक्षा करनेवालेको भी 'साधारण कोटिका प्राकृत भक्त' कहा; किन्तु यही बात जब श्रीकृष्णचन्द्रने कही तो श्रीमद्भागवतमें ही उन्होंने कहा—'**स एव गोखरः**' अर्थात् वह तो पशुओंमें भी गधा है।

☞सच्ची बात तो यह है कि यहाँ आत्मसमर्पणकी सबसे ऊँची स्थिति बतायी गयी है। आत्मसमर्पण, सख्य, दास्य और अन्तमें वात्सल्य यह क्रम यहाँ जान पड़ता है। वात्सल्य अन्तमें तो महर्षि वाल्मीकि अपने भावके कारण रखते हैं; जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिमें गुण-ही-गुण देखती है। पतिदेव जो गुण उसमें बतलाते हैं, उन्हें भी वह पतिकी उदारता ही मानती है। अपनेमें उसे त्रुटियाँ ही दीखती हैं। पतिसे हुई भूल एवं हानिको भी वह अपनी त्रुटि ही समझती है। पतिके अतिरिक्त उसका कोई आश्रय नहीं। पति ही उसका एकमात्र भरोसा है। पतिके जो प्रियजन-परिजन हैं (वे पतिके सम्बन्धसे प्रिय हैं)। ठीक यही अवस्था इस भक्तकी है।

☞इस भवनमें आत्मसमर्पण—मधुर भावका संकेत है, अतः यहाँपर *'सीय सहित दोउ भाइ'* को बसनेके लिये नहीं कहा गया। यहाँ छोटे भाईकी उपस्थिति मर्यादासंगत नहीं। साथ ही यहाँ *'राम बसहु'* कहकर एकाकी निवास करनेको भी नहीं कहा जा रहा है। यहाँ ***'तेहि उर बसहु सहित बैदेही।'*** श्रीमहारानीजीके साथ निवास करनेका अनुरोध किया गया है।

वि० त्रि०—लंकाकाण्डके पूर्वार्धमें ग्यारहवें प्रकारके भक्त समुद्रजी हैं। यथा—*'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही'* (यह *'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा'* है) ***'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक न मोर बड़ाई॥'*** (***'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी'***) (यह *'राम भगत प्रिय लागहिं'* का उदाहरण है)।

पु० रा० कु०—*'गुन तुम्हार समुझहिं'''* से *'तेहि बसहु'''* तक वैश्यका धर्म वर्णन किया गया।

बैजनाथजी—प्रभुके दिव्य गुणोंको विचारते हैं और काम-क्रोध आदि अनेकों अपने दोष समझते हैं। यह कार्पण्य शरणागति है। यथा—***'कायर क्रूर कपूत खल लंपट मंद लबार। नीच अघी अति मूढ़ मैं लीजै नाथ उबार॥'*** *'सब भाँति तुम्हार भरोसा'* यह रक्षामें विश्वास-शरणागति है।

नोट—दसवाँ स्थान तितिक्षावृत्ति या नीतिवृत्ति है और ग्यारहवाँ कार्पण्यवृत्ति है। (गौड़जी)

(बारहवाँ-तेरहवाँ स्थान)

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥५॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥६॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥७॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥८॥

शब्दार्थ—**पाँति** (पंक्ति)=एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग; समाज, परिवारसमूह। **बड़ाई**=बड़प्पन, प्रतिष्ठा, सम्मान। **लउ**=लौ=चित्तकी वृत्ति; लाग, लगन। **लाई**=लगाकर। **अपबरगु**=मोक्ष, निर्वाण। **चेरा**=दास, सेवक, गुलाम। **डेरा करना**=निवास करना, पड़ाव डालना।

अर्थ—जो जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रिय, प्यारा कुटुम्ब और सुखदायक घर यह सब छोड़कर आपहीमें लौ लगाये रहता है, उसके हृदयमें, हे रघुराई! आप रहिये॥ ५-६॥ स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिनको (ये सब) समान हैं और जो जहाँ-तहाँ सर्वत्र सब स्थानोंमें धनुष-बाण धारण किये हुए आपको ही देखते हैं और कर्म-वचन-मनसे आपके चेरे हैं, हे राम! उनके हृदयमें डेरा कीजिये॥ ७-८॥

पु० रा० कु० १—ऊपर अर्धाली ४ तक प्रवृत्तिमार्गवालोंका वर्णन हुआ, इसीसे वैदेहीसहित वास करनेको कहा। अब यहाँ निवृत्तिमार्गवालोंका वर्णन है। जाति उच्चवर्ण ब्राह्मण, उनमें भी अच्छे कुलवाले हों, पाँति भी अच्छी हो जिसमें इनकी पति (प्रतिष्ठा) हो, सम्पत्तिवाले हों, धर्म जो कुल-परम्पराका है और मनुष्यमात्रका है, बड़ाई अर्थात् लोगोंमें मान्य-प्रतिष्ठा इत्यादिको त्यागकर प्रभुमें अनुरक्त रहते हैं यह त्याग है, वैराग्य है। इसीसे एक रघुराईको बसनेको कहते हैं। *'लउ लाई'*=लौ लगन लगाकर; सब वासना छोड़कर प्रभुमें आसक्त होकर, यथा—*'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥'* तैलधारावत् स्मरण रहना लौ लगना है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) *'जाति पाँति…'* इति। **'तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥'** (भा० १०। १४। ३६) जबतक पुरुष भगवान्‌की शरणमें नहीं जाता, जबतक वह उन दयाधामका जन नहीं हो जाता, तभीतक उसके हृदयमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि शान्ति एवं आनन्दको चुरानेवाले चोर रहते हैं, तभीतक घर उसके लिये कारागारके समान बन्दी करके रखनेवाला रहता है और तभीतक मोहकी बेड़ी उसके पैरोंको जकड़े हैं। (ख) 'मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक समाज या पार्टीका हूँ' यह मनुष्यको बाँध रखनेवाला राग है। जाति एवं समाजका गर्व कितने अनर्थ कराता है, इसे हम भारतवासी खूब भोग चुके हैं। जाति एवं पंक्ति (वर्ण) की व्यवस्था समाजको उन्नत करनेके लिये है, दृढ़ एवं संगठित करनेके लिये है। लेकिन जब कोई यह मान लेता है—'मैं दूसरोंसे बड़ी जातिका हूँ' तो वह प्रमाद करता है। उसके द्वारा अनर्थ होने लगते हैं। **'स्व एवं धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः।'** अपने धर्ममें स्थित रहे; किंतु दूसरेपर आक्षेप न करे। यह आदर्श है वर्णव्यवस्थाका। लेकिन जहाँ भगवान्‌की शरण लेना है, वहाँ भला जाति-पाँतिका भेद कैसा? जीवकी तो कोई जाति है नहीं। जन्मसे पूर्व और मृत्युके पश्चात् हमारी जाति तथा वर्णका क्या कुछ पता है? सर्वेश्वर प्रभुकी दृष्टिमें सब समान हैं। सब उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। हाँ, व्यवहारमें तो वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाका पालन होना ही चाहिये। किंतु मनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये। जातिका गर्व ही अनर्थ है। (ग) जैसे उच्च वर्ण एवं उच्च कुलमें जन्मका मद होता है। वैसे ही धनका भी मद होता है। **'श्रोत्रदृग्वाग्विहीनं कुरुते लक्ष्मीर्जनस्य को दोषः। गरलसहोदरजाता यन्न मारयति तच्चित्रम्।'** लक्ष्मी ही मनुष्यको कान, आँख एवं वाणीसे रहित करके बहिरा, अंधा, गूँगा बना देती है, इसमें मनुष्यका दोष क्या है? अरे, वह हलाहल विषकी सहोदर बहिन है, वह मार नहीं डालती यही क्या कम आश्चर्य है? ये लक्ष्मीदेवी भगवान्‌की अर्धाङ्गिनी हैं, अतः जो भगवान्‌की शरण ले लेता है उसपर उनका मादक प्रभाव नहीं पड़ता। वह धनकी अपेक्षा ही नहीं करता। (घ) अब रही धर्मकी बात। नाना प्रकारके कर्तव्योंका आग्रह भी उपासकके मार्गमें कम बाधक नहीं है, इसीसे भगवान्‌ने **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** ऐसा कहा है। सब धर्मोंको छोड़नेका तात्पर्य यह है कि लौकिक एवं वैदिक कर्मों, आचारोंमें अपनी आराध्य-निष्ठा, उपासना-निष्ठाके अनुकूल जो कर्म हों, उनका आचरण किया जाय और जो उसके विपरीत पड़ते हों, जैसे कुल-परम्परासे आती हुई प्रेत-पूजा आदि या वैदिक सोमभाग आदि, उनसे स्वयं तटस्थ हो जाय, उदासीन हो जाय। **'लोके वेदे च तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता।'** (ना० भ० सूत्र) (ङ) *'बड़ाई'* इति। पदका गर्व, सम्मानका गर्व सबसे बड़ा होता है। सौ-दो-सौ, हजार-दो-हजार जिसे संत महात्मा विद्वान् कहने लगते हैं, वह समझ ही नहीं पाता कि मूर्खोंकी भीड़के कहनेसे कोई सन्त महात्मा या विद्वान् नहीं हो जाता। ऐसी प्रशंसा पाकर लोग अपनेको अवतार मानने लगते हैं। राम, कृष्णसे भी ऊँचे पहुँचा हुआ घोषित करने लगते हैं। बड़े-बड़े त्यागी भी बड़ाईके पीछे दौड़ते देखे जाते हैं। अपमानसे लाल भी हो जाते हैं। बड़ाई पानेकी भावना सभीमें रहती है। त्याग, सदाचार, सत्कर्मसे ही यश मिलता है, अतः यश-इच्छुक पुरुष सत्पुरुष होता है। लेकिन है यह भी वासना। वासनापर जिसकी विजय हुई वही सच्चा साधु है। (च) *'प्रिय परिवार…'* इति। इस चौपाईमें त्यागका क्रम नीचेसे ऊपरकी ओर है। पहले घर तथा परिवारकी आसक्ति जाती है तब जाति-पाँति आदिका आग्रह क्रमशः जाता है और अन्तमें यश-इच्छा। धनके लिये जाति एवं वर्णके आचारसे लोग च्युत होते प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। यज्ञादि धर्मोंके लिये धनका त्याग आवश्यक है। जाति आदि सबका त्याग करके जो वीतराग अवधूत हो गये हैं, बड़ाई पानेकी इच्छा उनमें भी रहती है। लेकिन इस क्रमसे यह न समझ लेना चाहिये कि परिवार एवं घरको छोड़ देना बहुत सरल है। 'परिवार' इसीलिये 'प्रिय' और 'सदन' को 'सुखदायक' बताया गया। परिवारकी वासना इतनी प्रबल होती है कि साधु हो जानेपर भी चाचा गुरु, दादा गुरु, गुरुभाई, चचेरे गुरुभाई आदिका सम्बन्ध जोड़कर पूरा नया परिवार बना लिया जाता है। 'सदन' तो 'सुखदायी' ही ठहरा। बहुत थोड़े विरक्त मिलते हैं

जो आजीवन अवधूत रह सकें। कुटिया बनानेका उपक्रम वर्षों विचरण करनेवाले भी करने लगते हैं। बिना अपनी कुटिया हुए *'सुखदाई सदन'* की सुख-सुविधा कैसे प्राप्त हो! लेकिन जो प्रिय परिवार एवं सुखदायी सदनकी इस मोहमयी मायाको ठुकरा देते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं—**'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥'** (भा० ९।४।६५) जो स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, स्वजन-बान्धव एवं प्राणोंसे भी प्यारे धनको छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं, उनको छोड़नेकी बात तो दूर रही, उनके छोड़नेकी इच्छा भी मैं कैसे कर सकता हूँ। भगवान्ने यह बात दुर्वासासे अम्बरीषकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कही थी। वे गृहस्थ थे, स्त्री, पुत्र, राज्यको उन्होंने नहीं छोड़ा था। वे संन्यासी नहीं हुए थे। अतः, (छ) *'सब तजि'* का अर्थ घरद्वार छोड़कर बाबाजी बनना नहीं है। *'सब तजि'* का अर्थ केवल सबकी आसक्ति छोड़ देना है। सब रहें तो ठीक, सब नष्ट हो जायँ तो भी ठीक ऐसी स्थिर वृत्ति यहाँ अपेक्षित है।

२—इस द्वादश भवनमें सख्यभावका वर्णन है। अपने परम प्रिय सखा श्रीरामसे भिन्न जाति, वर्ण, धर्मका कोई अहंकार जिसे नहीं है। जिसकी जाति आदि सब सखापर न्योछावर है। धन एवं मान अपना कुछ नहीं। जो अपने प्रिय सुहृद्के स्नेहमें न तो धनकी चिन्ता करता, न मानापमानकी। परिवार तथा घर चाहे जितने प्यारे एवं सुखदायी हों—अशान्तिदायी परिवार एवं असुविधापूर्ण घरकी तो बात ही छोड़िये, सब प्रकारसे अनुकूल परिवार एवं उत्तम भवन भी जिसके चित्तको खींच नहीं पाता। जैसे बालक अपने प्रिय मित्र दूसरे बालकके साथ खेलते समय जाति आदि सब भूला रहता है, ऐसे ही सब ओरसे हटकर जिसका चित्त श्रीराममें निरन्तर लगा रहता है, उसके चित्तमें कौसलकुमार निवास करते हैं। 'सख्यरस' होनेसे यहाँ केवल *'रघुराई'* को बसनेके लिये कहा। श्रीजानकीजीका नाम नहीं लिया। (अप्रकाशित)।

बै०—जाति, विद्या, महत्त्व, रूप और यौवन—ये भक्तिके कण्टक हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।

वि० त्रि०—लंकाकाण्डके उत्तरार्धमें बारहवें प्रकारके भक्त वानर लोग हैं। क्रमशः गुणोंके उदाहरण ये हैं—*'मम हित लागि तजे इन्ह प्राना'* अथवा *'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा॥' 'बनचर देह धरी छिति माहीं।''हरि मारग चितवहिं मति धीरा॥'* देवतालोग 'जाति, पाँति, धन-धर्म, बड़ाई' आदि छोड़कर सरकारके लिये वानर बने।

प० प० प्र०—*'जाति पाँति'''* इति। जाति-पाँति-विभाजक संस्थावाले कहेंगे कि गोस्वामीजीने भी देखो ऐसा ही लिखा है, पर यदि इस वचनका अर्थ शब्दशः लेना हो तो धन, बड़ाई, प्रिय परिवार, सदन और सुखदायी सर्वस्वका भी त्याग करना पड़ेगा। यहाँ मुख्यतः *'मैं और मोर'* का ही त्याग अभिप्रेत है तथा भगवान्को *'उर लाई'* रहना ही ध्येय है। जबतक अन्य किसीको हृदयमें स्थान है तबतक भगवान् हृदयमें विराजेंगे ही नहीं।

नोट—*'सरगु नरकु'''* इति। (क) स्वर्गका सुख, नरकका दुःख और मोक्षका आनन्द—ये सब उनको एक-से हैं। नरकमें ही रहकर प्रभुको ही देख वे सुखी रहते हैं। यथा—*'औरु मेरे को है काहि कहिहौं। रंकराज ज्यों मनको मनोरथ जेहि सुनाइ सुख लहिहौं॥ १॥ यमयातना योनि संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं। मो को अगम सुगम तुम्ह को प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं॥ २॥ खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥ ३॥ इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं। दीजै बचन कि हृदय आनिये तुलसी को पन निरबहिहौं॥'* (वि० २३१) (ख) *'जहँ तहँ देख'''*—जैसे हनुमान्जी, यथा—*'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'* गाढ़ प्रेम होनेसे भक्तोंमें गाढ़ स्मृति अपने प्रेमपात्रमें होती है, जिससे वे सर्वत्र अपने प्रेमपात्रको देखते हैं। हमें ऐसे प्रेमियोंके दर्शन हुए हैं जिन्हें मार्गमें चलते हुए पृथ्वीके कण-कणमें 'राम' नाम अङ्कित देख पड़ता है, जिन्हें रास्ते चलते भी प्रभुके चरित ही नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष होते देख पड़ते हैं। यथा—'भूमौ जले

नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु सामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च॥' (महा० रा० ४९८) कौसल्याजी अपने सम्बन्धमें स्वयं कहती हैं—'*माई री! मोहि कोउ न समुझावै। राम गवन साँचो किधौं सपनो मन परतीति न आवै॥ लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लषन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे।*…' (गी० २। ५३)

मा० म०—यदि मन रामको वरण कर ले तो स्वर्ग आदि सब समान हैं, कुछ दुःख उसको न मालूम होगा। भाव यह कि संसारको भूलकर सर्वत्र आपको ही देखते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ '*सरग नरक*…' इति। (क) '**आब्रह्मभुनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**' (गीता ८। १६) ब्रह्मलोकतक जितने लोक हैं, उन सबमें जानेवाले जीव जन्म-मरणके चक्करमें ही पड़े रहते हैं। इसलिये जो विचारशील हैं उन्हें स्वर्गके सुखोपभोगका कोई लोभ नहीं होता। स्वर्गमें जो सुख है वह ऐन्द्रियक सुख ही है। जिसने इसी लोकमें इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर दिया, उस विरक्तमें क्या इन्हीं इन्द्रियोंके भोगोंके मरनेके पीछे पानेकी लालसा बाकी रह सकती है! (ख) जो इन्द्रियोंके सुखोंसे विरक्त होता है, वह कष्टकी भी चिन्ता नहीं करता। सुख और दुःख दोनोंमें वह समान रहता है। इसीसे स्वर्गकी यदि उसे कामना नहीं तो नरकका उसे कोई भय भी नहीं। फिर जो अपने आराध्यको सर्वत्र देखता है उसे तो नरकका क्या भय! वह वहाँ रहेगा तो वहाँ भी अपने आराध्यको अपने पास देखेगा। यह बात तो यमराजके सोचनेकी है कि ऐसा कोई यहाँ आ धमके तो उसके नरक नरक रह भी सकेंगे या नहीं। इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे विरक्त होकर प्रायः मुक्तिकी इच्छा होती है। योग, सांख्य आदि जितने साधन-मार्ग हैं, वे सब मोक्षके लिये ही हैं, अपवर्ग ही मुमुक्षुका उद्देश्य होता है। जबतक लौकिक एवं स्वर्गीय भोगों या मोक्षकी इच्छा हृदयमें है तबतक अपने हृदयमें विराजमान उस परम सुहृद्‌को कोई कैसे जान सकता है। '*ताते जे हरि भगत सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥*' जो भगवान्‌के चरणकमल-किञ्जल्करसके रसिक हैं, वे तो एक ही लालसा रखते हैं, एक ही प्रार्थना वे नित्य अपने प्राणसर्वस्व प्रभुसे करते हैं—'*जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ नाथ देहु यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यहि ओर निबाहू॥*' अपने कर्मोंका सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक जो भी फल हो उसे भोग लेनेको वे सहर्ष सदा उद्यत रहते हैं। वैसे सच्ची बात तो यह है कि '**यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः।**' यदि भगवान्‌में आनन्दस्वरूप भक्ति हो जाय तो मोक्ष-साम्राज्यकी श्री अपने-आप चरणोंमें लोटने लगती है। '*भगति करत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥*' भक्त तो यही प्रार्थना करता है कि मुझे कहीं भी रहनेको मिले इसकी चिन्ता नहीं, किंतु यह चाहता हूँ कि मृत्युके समय भी आपके ही चरणकमलोंका चिन्तन करता रहूँ। यह चरणचिन्तन कभी न छूटे। अनन्य सेवक सदा सर्वत्र अपने प्रभुको ही देखता है।—'*जहँ तहँ देख धरे धनु बाना*' जब उसके आराध्य सर्वत्र उसके पास हैं तब उसे स्वर्गकी या मोक्षकी क्या इच्छा! और नरका क्या भय? (ख) '*करम बचन मन राउर चेरा*' इति। कर्मसे आपका दास है। आपकी तथा आपके भक्तोंकी सेवामें लगा रहता है। आपके श्रीविग्रह एवं मन्दिरकी सेवा-टहल करता रहता है। वह निकम्मा नहीं रहता और न व्यर्थ कार्य करता है। शरीरसे सेवा करता है। वचनसे भी दास है। न वह मौनी रहता है और न उसकी वाणी सांसारिक चर्चामें लगती है। वह आपके नाम, रूप, लीला एवं गुणका गान करता रहता है। यह कर्म एवं वचनरूप सेवा वह बेमनसे नहीं करता। उसका मन भी आपका दास है। मन भी आपके चरणोंका ही चिन्तन करता रहता है।—बस यही पूर्ण जीवन है। मनुष्य-जीवनकी यही चरम साधन-स्थिति है। जो इसे प्राप्त कर चुका है, उसके हृदयमें निवास करते हैं। यहाँ दास्य-भक्तिका पूर्णरूप प्रतिपादित किया है।

प० प० प्र०—१ '*सरग नरक अपबरग*…' इति। (क) उत्तरकाण्ड १३०। १० में '*नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी*' यह क्रम है और यहाँ '*सरग नरक*' यह क्रम है। यहाँ 'नरक'को स्वर्ग और अपवर्गके बीचमें

देकर जनाया कि राम-भक्तिरहित स्वर्ग तथा रामभक्ति-हीन मोक्ष दोनों ही नरकके समान लगते हैं। स्वर्गस्थ देवगण स्वयं कह रहे हैं—*'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी॥'* तब इसका परिणाम क्या है—*'भव प्रवाह संतत हम परे'।* इन्द्र और ब्रह्मा भी यही कह गये हैं। यथा—*'मोहि रहा अति अभिमान', 'धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'* और मोक्षके सम्बन्धमें श्रीभुशुण्डिजी कह रहे हैं कि *'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (ख) *'उर डेरा'*=डेरा=तम्बू, पड़ाव। यह शब्द साभिप्राय है। यह जंगम मकान है। एक जगहसे दूसरी जगह ले जा सकते हैं। ऐसे भक्तोंका हृदय डेरा है। वे स्वर्गादि जहाँ भी जाते हैं वहाँ भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन आदि करते हैं। श्रीसनकादिजीके चरित्रमें *'डेरा'* शब्द भी चरितार्थ होता है।

वि० त्रि०—तेरहवें प्रकारके भक्त उत्तरकाण्डके पूर्वार्धमें श्रीसनकादिकजी हैं। इसके दोनों गुण उनमें हैं। यथा—*'समदरसी मुनि बिगत बिभेदा', 'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'*

(चौदहवाँ स्थान)

दो०—जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥१३१॥
एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए। बचन सप्रेम राम मन भाए॥१॥

अर्थ—जिसे कभी भी कुछ न चाहिये, जो आपसे स्वाभाविक प्रेम रखता है, उसके मनमें निरन्तर वास कीजिये, वह आपका अपना (खास राजमहल) घर है॥१३१॥ इस प्रकार मुनिने स्थान दिखाये। मुनिके प्रेमयुक्त वचन श्रीरामजीके मनको अच्छे लगे॥१॥

नोट—१ (क) ये निष्काम प्रेमी भक्त हैं, यथा—*'सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन।…'।* इनका हृदय निष्काम है इसीसे यह 'निज घर' है। इसमें सदा निवास करनेको कहते हैं। चार प्रकारके भक्तोंमेंसे *'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा'* और इससे भी अधिक प्रेमी प्यारा है। (ख) *'सुनहु राम अब कहौं निकेता'* उपक्रम है और *'एहि बिधि मुनिबर भवन देखाए'* उपसंहार है। (ग) *'बचन सप्रेम राम मन भाए'* इति। श्रीरामजीको केवल प्रेम प्रिय है, वचनमें वही प्रेम भरा है; अतः वे प्रिय लगे। *'मन भाए'* से जनाया कि प्रभुने मनमें कहा कि मुनि, आपने बहुत खूब कहा, ये स्थान हमारे निवासके लायक हैं, हम इनमें अवश्य वास करेंगे। (प्र० सं०)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—१ (क) श्रीमद्भागवतमें ये लक्षण श्रेष्ठ भगवद्भक्तके बताये गये हैं। यथा—**'न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥'** (११। २। ५०) अर्थात् जिनके मनमें विषय-सुखोंको पानेकी इच्छा, उनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति तथा उनके बीज वासनाओंका उदय ही नहीं होता, एकमात्र भगवान् वासुदेवमें जिसका चित्त निवास करता है, वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त है। (ख) इस अन्तिम (चौदहवें) भवनमें महर्षि वाल्मीकि वात्सल्य-भक्तिका वर्णन कर रहे हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार अयोध्यासे निर्वासिता श्रीजनकनन्दिनीको पुत्रीकी भाँति अपने आश्रममें उन्होंने रखा और वहीं लव-कुशका जन्म एवं लालन-पालन तथा शिक्षण हुआ। महाराज दशरथ एवं महाराज जनकसे भी महर्षिकी मित्रता है। इसलिये श्रीराममें महर्षिका वात्सल्य-भाव है। मर्यादापुरुषोत्तमने भी इसीलिये अपने रहने योग्य स्थान महर्षिसे ही पूछा। क्योंकि गुरुजनोंसे पूछकर उनके बताये स्थानपर ही रहना सुशील पुरुषका कर्तव्य है। प्रधान देवकी पूजा सबसे पीछे की जाती है। इसीलिये महर्षिके लिये जो प्रधान भाव है, जो उनका अपना भाव है, उसका वर्णन वे सबसे अन्तमें करते हैं और *'सो राउर निज गेहु'* कहकर उसकी विशेषता स्पष्ट कर देते हैं।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—२ *'जाहि न चाहिअ…'* इति। (क) अपने अबोध शिशुपर माता-पिताका सहज स्नेह होता है। भला वे अपने नन्हें बच्चेसे क्या इच्छा कर सकते हैं। वह सुखी रहे, सानन्द रहे, बस यही उनकी कामना रहती है। उसके सुखमें ही उन्हें सुख है। पशु-पक्षीतक अपने शिशुओंसे स्वाभाविक स्नेह

करते हैं। बड़े होनेपर वे बच्चे माता-पिताको पहिचानतेतक नहीं; किंतु माता-पिता बच्चेके लालन-पालनमें क्या यह बात कभी सोचते हैं? गोपियों के पूछनेपर रासरात्रिको श्रीकृष्णचन्द्रने पवित्र प्रेमके उदाहरणस्वरूप माता-पिताके प्रेमका उल्लेख किया है। '**भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा। धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥**' (१०।३२।१८) भगवान्‌ने कहा—सुन्दरी गोपियो! जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन एवं माता-पिता प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं, वैसे प्रेम करनेवालोंमें ही अपवाद (त्रुटि) रहित धर्म तथा सौहार्द है।' '**तत्सुखसुखित्व**' आराध्यके सुखमें ही सुख मानना, उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहना, यह भक्तिका चरम स्वरूप है और वात्सल्यमें इसकी पूरी प्रतिष्ठा होती है। सेवक अपने स्वामीसे कम-से-कम अनुकूलता चाहता है, अनुग्रह चाहता है। सखा अपने सखासे समानताका व्यवहार चाहता है। आदान-प्रदान चाहता है। स्त्री अपने पतिसे ही जो कुछ चाहना होता है, सब कुछ चाहती है। इन तीनोंकी अनन्यता सच्ची होती है, प्रेम सच्चा होता है, पर वह जन्मजात (सहज) नहीं होता। सम्बन्धके पीछे होता है। उसमें कुछ-न-कुछ हेतु होता है। लेकिन माता-पिताका प्रेम सर्वथा स्वाभावकि होता है। उसमें कोई इच्छा नहीं होती। बच्चेके सुख-स्वास्थ्यमें ही उनकी प्रसन्नता होती है। बच्चेसे कभी कुछ चाहनेकी बात उनके मनमें आ ही नहीं सकती। इस प्रकार सर्वथा निष्काम स्नेह जिनका श्रीराममें है, उनका मन तो उन श्रीकौसल्याकुमारका '*निज गेहु*' है।

महात्माओंने '*निज गेहु*' का भाव निजी 'कक्ष' अर्थात् रंग सदन करके इस दोहेको मधुररस-प्रतिपादक माना है। महात्माओंके भाव नित्य सत्य होते हैं। मैं उनका विरोध करनेका साहस करूँ यह धृष्टता है। लेकिन मानस भगवत्स्वरूप है और जैसे सभी भगवान्‌को अपने-अपने भावके अनुसार देखते हैं, वैसे ही मैंने भी यहाँ अपने भावके अनुसार ही अर्थ देखा है। मुझे वक्ता महर्षि वाल्मीकिकी ओर दृष्टि रखना अधिक उपयुक्त लगा और '*तुम्ह सन सहज सनेहु*' में जो '*सनेहु*' है, वह भी वात्सल्यकी ओर संकेत करता जान पड़ा। स्नेह माधुर्यभावमें प्रेम कहा जाता है। बड़ोंका छोटोंके प्रति रागात्मक भाव ही स्नेह कहलाता है—'*बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।*'

(ग) '*सो राउर निज गेहु*' का भाव वात्सल्यकी मुख्यता माननेसे यह होगा—'दूसरे स्थान तो बसनेके उपयुक्त हैं और वहाँ बसना चाहिये; किंतु यह तो तुम्हारा अपना घर है। पिताका भवन जैसे पुत्रका अपना घर है, वैसे ही यह तुम्हारा पैतृक भवन है। इसे छोड़ना तो तुम्हारे लिये किसी प्रकार उपयुक्त नहीं। इतनी सुख-सुविधा अन्यत्र कहीं तुम्हें नहीं प्राप्त होगी। पूरी स्वतन्त्रतासे अपने सभी संगी-साथियोंके साथ तुम यहीं रह सकते हो। यहाँ रहनेके लिये तुम्हें किसीसे पूछने, किसीसे अनुमति लेनेकी आवश्यकता नहीं। और यदि यह उपयुक्त नहीं तो भी यह तुम्हारा अपना घर है। इसे उपयुक्त बनाना भी तुम्हारा अपना ही कर्तव्य है।

३—'*एहि बिधि*·····' इति। मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादाकी रक्षा करते हुए इन भवनोंके विषयमें कुछ कहा नहीं। नरलीलाको सार्थक करते हुए वे चुप रहे; किंतु क्या महर्षिकी प्रार्थना व्यर्थ चली गयी ? क्या उनके दिखलाये भवन प्रभुने स्वीकार नहीं किये ? नहीं, नहीं। '**मौनं स्वीकारलक्षणम्**'। चुप रह जाना स्वीकार कर लेनेका चिह्न है। इतनेपर भी आपको संतोष न हो तो मानसके चारों वक्ता तो कह ही रहे हैं—'***बचन सप्रेम राम मन भाये।***' ये प्रेमपूर्ण वचन श्रीरामजीको पसंद आ गये। इससे अधिक स्वीकृतके लिये और चाहिये ही क्या ?

पु० रा० कु०—यहाँतक मुनिने १४ निवास-स्थान कहे। चौदह कहनेका भाव यह है कि १४ ही भुवन हैं मानो एक-एक स्थान एक-एक भुवन है। वा, १४ वर्ष वनमें रहना है; वा, धर्मके निवास-स्थान चौदह माने गये हैं, अथवा सम्पूर्ण १४ विद्याएँ हैं, इससे १४ कहे।

वि० त्रि०—१ चौदहवें प्रकारके भक्त उत्तरकाण्डके उत्तरार्धमें श्रीभुशुण्डिजी हैं। यहाँके सब गुण उनमें हैं। यथा—'***मनतें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥***'

वि० त्रि०—२ भक्तोंके भजन-प्रकारमें भेद है, अतः भक्तिके चौदह भेद माने गये। सभी भक्त इन चौदहोंमेंसे किसी एक या एकाधिकके अनुयायी हैं। इन्हीं भक्तोंके प्रीत्यर्थ श्रीरामजी शरीर धारण करके उनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। वस्तुतः भगवान्‌की भक्तोंके साथ क्रीड़ा ही सगुण लीला है।

नोट—२ यहाँ चौदह भवनोंको कहते हुए क्रमशः *'हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे'* (१२८। ५), *'हृदय सदन सुखदायक'''।'* (१२८। ८), *'बसहु हिय तासु।'* (१२८), *'बसहु तिन्हके मन माहीं।'* (१२९। ५), *'मन मंदिर बसहु।'* (१२९), *'हृदय बसहु रघुराया।'* (१३०। २) *'तिन्हके मन माहीं।'* (१३०। ५) *'मन सुभ सदन तुम्हारे।'* (१३०। ८), *'मन मंदिर बसहु।'* (१३०), *'घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका।'* (१३०। २), *'उर बसहु सहित बैदेही। '* (१३१। ४), *'हृदय रहहु रघुराई।'* (१३१। ६), *'करहु तेहि के उर डेरा।'* (१३१। ८) और *'सो राउर निज गेहु'* ऐसा कहा गया है! इनमेंसे दोमें 'मन्दिर', छः अथवा सातमें 'हिय, मन, हृदय, उर' शब्द खाली आये हैं, इनके साथ गृह, घर, सदन आदि कोई शब्द नहीं आया है।

अ० रा० में जो नौ स्थान बताये गये हैं। उनमें शान्त समदर्शी द्वेषहीन होकर नित्य भजन करनेवालोंके हृदयको 'अधि मन्दिर' **'त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमन्दिरम्।'** (२। ६। ५४।), धर्माधर्मको छोड़कर अहर्निश भजनेवालेके हृदयको 'सुखमन्दिर' **'सीतया सह ते राम तस्य हृत्सुखमन्दिरम्।'** (५५) और आपके ही मन्त्रको जपने तथा आपकी ही शरणमें प्राप्त द्वन्द्वहीन निःस्पृह भक्तके हृदयको 'सुमन्दिर' कहा है। इस तरह तीन बार 'मन्दिर' शब्द आया है। पाँच बार 'गृह' (एक बार शुभ गृह) और एक बार केवल *'तेषां हृदब्जे सह सीतया वस।'* (६२) आया है।

'मन्दिर' शब्दमें विशेषता अवश्य है यह सभी जानते हैं। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि यद्यपि घर, गृह, सदन, मन्दिर आदि परस्पर पर्याय हैं तो भी श्रीवाल्मीकि-कथित भिन्न-भिन्न नामोंका भिन्न-भिन्न कारण है, उनमेंसे यहाँ दो स्थानोंपर मन्दिर कहनेका कारण लिख रहा हूँ। घर, गृह, डेरा आदिमें रहनेवाला व्यक्ति अपनी इच्छासे आने-जाने, खाने-पीने आदि सभी कार्योंमें स्वतन्त्र होता है। और मन्दिरमें अहर्निश निरन्तर बसनेवाला प्रतिष्ठित देवता होता है और वह देवता अपना सब बाह्य व्यापार अर्चकके हाथमें दिये रहकर तत्परतन्त्र बना रहता है। भगवदर्चावतारका वैभव इसीलिये सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुगम कहा जाता है कि भगवान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होते हुए भी अर्चकके सर्वथा परतन्त्र रहते हैं—अर्चक जैसे चाहे वैसे रखे। इनका शयन करना, जागना, नहाना, भोजन करना आदि व्यापार अर्चकाधीन रहता है। इसका एकमात्र कारण भगवान्‌की परम कृपा ही है, महर्षिजीका कहना है कि जिसका सभी कार्यकलाप आपके चरण-रति-प्राप्त्यर्थ हो और जिसके सब कोई और सब कुछ आप ही एकमात्र हों, उस महाभागके सर्वदा और सर्वथा अधीन होकर आप तीनों मूर्तियाँ उसके मन-मन्दिरमें निवास कीजिये।

कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥ २॥
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥ ३॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि केहरि मृग बिहग बिहारू॥ ४॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि-प्रिया निज तपबल आनी॥ ५॥

शब्दार्थ—सुपास=सुविधा, सुख। बिहार=क्रीड़ा करनेका स्थान; चलने, फिरने, घुमने आदिका स्थान।

अर्थ—मुनि कहने लगे कि हे सूर्यकुलके स्वामी! सुनिये, अब मैं समयके अनुसार सुखदायक निवास-स्थान बताता हूँ॥ २॥ चित्रकूट पर्वतपर निवास कीजिये। वहाँ आपके लिये सब तरहका सुपास है॥ ३॥ पर्वत सुहावना है और सुन्दर वन है, हाथी, सिंह, हरिण आदि पशु और पक्षियोंका वह विहार-स्थल है॥ ४॥ पवित्र नदी है जिनकी पुराणोंने प्रशंसा की है और जिसे महर्षि अत्रिजीकी प्रिय स्त्री श्रीअनुसूयाजी अपने तपोबलसे पृथ्वीपर लायी थीं॥ ५॥

पाण्डेजी, पंजाबीजी—मुनिने पहले उन भक्तोंके हृदयमें वास करनेको कहा, जिनकी एक-एक इन्द्रिय